भाग ४] [illegible] १९३० [पूर्ण संख्या ४३



सम्पादक

वार्षिक मूल्य २)
विदेश के लिये ३॥)

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०
श्री विश्वप्रकाश, बी० ए०, एल-एल० बी०

एक प्रति ॥)

विषय-सूची

वेदोदय के नियम

(१) यह पत्र अंग्रेजी महीने, की १ ली तारीख़ को प्रकाशित हो जाता है।

(२) कई बार जांच कर पत्र भेजा जाता है। जिन महाशय के पास १० ता० तक न पहुंचे उन्हें अपने डाकखाने में रिपोर्ट करनी चाहिये। डाकखाने की रसीद २० ता० तक भेजने पर दुबारा वेदोदय भेज दिया जायगा। इसके बाद पत्र आने पर विचार न किया जायगा।

(३) लेख, शंकायें—सम्पादक वेदोदय प्रयाग के पते से आनी चाहिये। (सम्पादक के नाम से नहीं)।

(४) पत्र के विषय में शिकायतें, प्रबन्धक वेदोदय, प्रयाग के पते से आनी चाहिये ग्राहक नम्बर लिखने पर आज्ञा का पालन ठीक ठीक हो सकेगा।

(५) यदि ग्राहक चाहें कि किसी पत्र का उनको उत्तर दिया जाय तो जवाबी पोस्ट कार्ड या टिकट भेजना चाहिये।

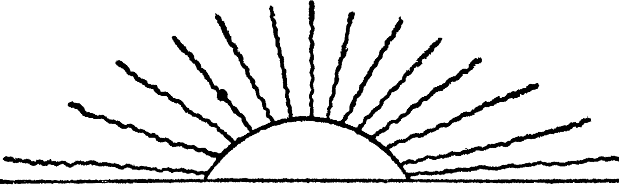


आर्य्य समाज के प्राण

श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज

बरैली में होनेवाले द्वितीय आर्य्य महा सम्मेलन के आप सभापति मनोनीत हुए हैं।

ओ३म्



वेदोदय

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति विभासति ।

[अथर्ववेद १३ । ४ । १ । १]

जब वह उदय होता है तो पश्चिम से पूर्व तक सब चीज़ें प्रकाशित हो जाती हैं।

From west to east are lit up all, when he rises & shines.

भाग ४	माघ संवत् १९८८, दयानन्दाब्द १०७, फरवरी १९३२ आर्यसंवत्सर १९७२९४९०३२	संख्या ५ पूर्ण सं २३

महा-पुरुष

[श्री पं० राजाराम पाण्डेय "मधुप"]

(१)

जो है भरा उच्च भावों से,
कविजन गुण जिसका गाते ।
निरभिमान अति जिसका मन है,
जिससे सुख सब जन पाते ॥
'मैं उत्तम सब अन्य नीच हैं',
जिसमें यह अभिमान नहीं ।
'मधुप' विश्व में विद्वद्वर से,
सतत वन्द्य है एक वही ॥

(२)

जिसकी विद्या सुन्दर ज्ञान,
प्राप्ति का साधन होती है।
मिटा अखिल अज्ञान, हृदय में,
बीज कर्म का बोती है॥
जिसकी कला-कलाप प्राप्ति से,
होती उपकृत जन्म-मही।
'मधुप' विश्व में विद्वद्वर से,
सतत वन्द्य है एक वही॥

(३)

सहकर हिंसा भी प्रति हिंसा की,
रखता जो चाह नहीं।
विपज्जाल में फँस कर भी छोड़ता
न्याय की राह नहीं॥
जिसकी देख आत्म-सत्ता को,
होते चकित शत्रु सब ही।
'मधुप' विश्व में विद्वद्वर से,
सतत वन्द्य है एक वही॥

(४)

'एक बार जो कहा' उसी पर,
जिसका जीना मरना है।
जन-सेवा-असि-विषम धार-पर,
जिसको नित्य विचरना है॥

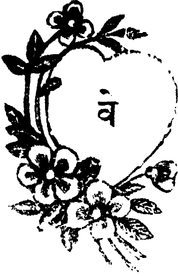
जिसको निज कर्तव्यों में,
मानापमान है मान्य नहीं।
'मधुप' विश्व में विद्वद्वर से,
सतत वन्द्य है एक वही॥

(५)

सुमन समान सुरभि जो है,
जग-जन-बन में वितरित करता।
सुमधुर उपदेशों से है जो,
पाप ताप सबका हरता॥
अर्पण किया वेद वाणी में,
जिसने सारा जीवन ही।
'मधुप' विश्व में विद्वद्वर से,
सतत वन्द्य है एक वही॥

यज्ञोपवीत का महत्त्व

(श्री पण्डित धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति, बंगलौर)



वेदोदय के सुयोग्य सम्पादक जी ने जनवरी सन् १९३२ के अङ्क में 'यज्ञोपवीत' विषयक एक अत्युत्तम लेख लिखा है। उसी के संबंध में मैं दो तीन और आवश्यक बातें पाठकों के सामने रखना चाहता हूँ जिससे यज्ञोपवीत के महत्त्व पर अधिक प्रकाश पड़े।

सुयोग्य सम्पादक जी ने अनेक वेद मन्त्र 'यज्ञोपवीत' विषयक उद्धृत किये हैं जिनको यहां फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं। यहां केवल अथर्ववेद के पंचम काण्ड के २८ वें सूक्त के एक दो मन्त्रों का निर्देश करना चाहता हूँ जिनमें 'त्रिवृत्' पद द्वारा यज्ञोपवीत का वर्णन है। इस सूक्त का तीसरा मन्त्र इस प्रकार है "त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन । अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां तइह श्रयन्ताम्।" अर्थात् इस यज्ञोपवीत के अन्दर (इसके यथार्थ अभिप्राय को समझते हुए धारण करने के कारण) तीनों प्रकार की पुष्टि (शारीरिक, आत्मिक और मानसिक) विद्यमान रहे। पोषक परमात्मा इस यज्ञोपवीत-धारी को घृत अर्थात् तेज (घृ-क्षरण दीप्त्योः ।। और पयस अर्थात् वीर्य (रेतः पयः—शत० १२।४।१।७) से सम्पन्न करे। इस यज्ञोपवीत धारी को अन्न पुष्कलमात्रा में प्राप्त हो, उत्तम पुरुषों से सदा इसका सम्पर्क होता रहे और उपयोगी पशु इसके घर में रहें।

यह प्रार्थना यज्ञोपवीत के महत्त्व और प्रयोजन पर पर्याप्त प्रकाश डालता है जैसा कि मैं आगे बताना चाहता हूँ। यज्ञोपवीत का तात्पर्य जहां तीन प्रकार के ऋणों का स्मरण कराना है वहां उसका तात्पर्य कर्तव्य का स्मरण कराना है कि प्रत्येक यज्ञोपवीत धारी को शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्ति की वृद्धि के लिये प्रयत्न करना है। वेद का 'त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्ताम्। यह वाक्य इस दृष्टि से विशेष महत्त्व पूर्ण है। ब्रह्मचर्यादि के पालन से वीर्यरक्षा और तेज का यज्ञोपवीत धारी में होना स्वाभाविक ही है। 'त्रिवृत्' पद का यज्ञोपवीत अर्थ 'ब्रह्म वै त्रिवृत् ता. २। १६। ४) त्रिवृदेव स्तोमो भवति तेजसे ब्रह्मवर्चसाय (ता. ११।१।७) तेजो वै त्रिवृद् ब्रह्मवर्चसं (ता० १७।६।३) इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थों

के वचनों से समर्थित होता है इसी को ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं।• इसी उपर्युक्त अथ. ५।२८ के २ य और चतुर्थ मन्त्र में भी इममिन्द्र संसृज वीर्यणास्मिन् त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णु॥ यज्ञोपवीत के वीर्य रक्षणादि रूप ब्रह्मचर्य व्रत तथा शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्ति के विकास के साथ सम्बन्ध का स्पष्ट निर्देश है अतः मेरे विचार में यज्ञोपवीत का तात्पर्य तीन ऋणों के स्मरण कराने के अतिरिक्त जिनका मान्य पण्डित गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय ने अपने लेख के अन्दर विस्तार से वर्णन किया है निम्न लिखित कर्तव्यों का स्मरण कराना भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब स्त्रियों को यज्ञोपवीत के अधिकार से वंचित कर दिया गया तो पुरुषों ने ही उनका यज्ञोपवीत भी स्वयं धारण करना शुरू कर दिया।

(१) शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों के विकासार्थ प्रयत्न। यज्ञोपवीत के तीन सूत्र इन तीनों का निर्देश करते हैं जैसे कि 'त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्ताम्।" इस वेद मन्त्र में भी बताया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन शास्त्रों में ३ ही सूत्रों का निर्देश है यद्यपि आजकल पौराणिक गृहस्थ ६ भी धारण करते हैं।

(२) यज्ञोपवीत के ३ सूत्र त्रिविध पवित्रता अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक शुद्धि का निर्देश करते हैं। इस पवित्रता का स्मारक होने के कारण ही यज्ञोपवीत को पवित्र चिह्न माना गया है और मन्त्र ब्राह्मण के सुप्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है कि "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्। आयुष्यमग्र्यं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ अर्थात् यज्ञोपवीत एक अत्यन्त पवित्र और सरल चिह्न है जिसका उपदेश प्रजापति परमेश्वर ने वेद द्वारा हमें सृष्टि के प्रारम्भ में दिया है। इसके तात्पर्य को समझते हुए धारण करने से दीर्घायु बल तेज की हमें प्राप्ति हो।

(३) यज्ञोपवीत वेदाध्ययन का चिह्न माना ही जाता है और यह बात ठीक भी है क्योंकि वेदों के प्रधान विषय ज्ञानकर्म उपासना ये तीन हैं। इसलिये भी वेदों को त्रयी नाम से कहा जाता है। प्रत्येक यज्ञोपवीत धारी का कर्त्तव्य है कि वह उत्तम ज्ञान को प्राप्त करे, उत्तम कर्म करे और वेदोक्त प्रकार से उपासना अभ्यास करके परमानन्द का लाभ करे। इस प्रकार वेदाध्ययन के साथ यज्ञोपवीत के सूत्रों का सम्बन्ध स्पष्ट है।

(४) यज्ञोपवीत का पर्यायवाची शब्द ही ब्रह्मसूत्र है। 'ब्रह्मसूत्र' शब्द से यह बात स्पष्टतया ज्ञात होती है कि ब्रह्म अथवा ईश्वर की प्राप्ति के साथ इस यज्ञोपवीत का विशेष सम्बन्ध है। वस्तुतः वेदों में ब्रह्म प्राप्ति के लिये ज्ञान कर्म और उपासना ये तीनों आवश्यक साधन माने

गये हैं अतः यज्ञोपवीत के ३ सूत्र इन तीनों का भी हमें स्मरण कराते हैं। ये तीनों साथ साथ चलने चाहिये। इनमें से किसी एक के भी अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(५) ऊपर जिस बात का निर्देश किया गया है उसी की अनेक प्राचीन ग्रन्थों से पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ महर्षि गार्ग्यायण प्रतीत 'प्रणववाद' नामक प्राचीन ग्रन्थ में जिसका अंग्रेजी अनुवाद सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० भगवानदास जी एम० ए० ने "Science or the sacred word" के नाम से तीन भागों में प्रकाशित कराया है यज्ञोपवीत की व्याख्या करते हुए षष्ठतरङ्ग के ३ य प्रकरण में कहा है।

"यस्य च व्रतबन्धत्वेम प्रवचनम्, सोऽयमुपवीत-संस्कारः यस्मात्कालादं शास्त्राध्ययने प्रवृत्तो भवति, प्रवृत्तं कारयति च, तस्मिन् काल एव तच्छास्त्राध्ययन रूप ब्रह्मचर्यस्यारम्भः। तदेवोपवीतं भवति। तत्र सर्वेषां ब्रह्मज्ञानोपार्जन शक्यत्वाद्धर्षो भवति। अयं च ब्रह्मचारी भवतीत्यभिप्रेत्य सर्वेऽप्युत्सहिता भवन्ति। तत्र चाचार्यः नियतः करोति। अनेन सह चैतच्छस्त्र मध्येयं भवति। तच्चिन्हं सूत्रधारणं भवति। उपनयनेऽपि सूत्रत्रयं ज्ञान क्रियेच्छाज्ञापकं भवति। तस्यैवानुकरणं सूत्रत्रयधारणम्।" (पृ० ३१६)।

इस उद्धरण का सारांश यह है कि यज्ञोपवीत वेद शास्त्र के अध्ययन रूप ब्रह्मचर्य्य का प्रारम्भ सूचक है जिसे देख कर सब को हर्ष होता है। उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत के ३ सूत्र इस बात का बाह्य चिह्न हैं कि यज्ञोपवीत धारी को उत्तम ज्ञान, उत्तम कर्म और उत्तम इच्छाओं का सदा अभ्यास करना है। ब्रह्मप्राप्ति की इच्छा से ही उपासना की जाती है अतः वस्तुतः इसमें और उपर्युक्त तत्त्व में विशेष भेद नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यज्ञोपवीत एक अत्यन्त सरल और पवित्र चिह्न है जिसके द्वारा हम अपने अनेक कर्तव्यों का स्मरण कर सकते हैं। निस्सन्देह साधारण मनुष्यों को इन चिह्नों की आवश्यकता होती है। सन्यासी इनका परित्याग कर सकते हैं क्योंकि उनका चित्त दिन रात ब्रह्मपरायण रहता है। इस पवित्र चिह्न के तात्पर्य को उपर्युक्त रीति से भली भांति समझते हुये हमें उसके द्वारा भी अपने जीवनों को अधिकाधिक आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करना चाहिये न कि उसका परित्याग करते हुए प्राचीन सत्य शास्त्रों के प्रति अपनी उपेक्षा का परिचय देना। आशा है विचारशील सज्जन इन निर्देशों से लाभ उठावेंगे।



(२३)

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥

(अथर्ववेद काण्ड १९, सूक्त ५३, मंत्र १)

(सप्तरश्मिः) सात किरणों वाला (सहस्राक्षः) हज़ार आंखों वाला (अजरो) कभी बूढ़ा न होने वाला, (भूमिरेताः) बहुत बलवान (अश्वः) तीव्र गामी (कालः) काल या समय (वहति) निरन्तर बह रहा है । (तम्) उस काल पर (विपश्चितः) ज्ञानी (कवयो) विद्वान् लोग (आरोहन्ति) स्वामित्व प्राप्त करते हैं । (विश्वा भुवनानि) सब लोक लोकान्तर (तस्य) उसके (चक्रा) पहिये हैं ।

इस वेद मंत्र में समय या काल की महिमा बताई गई हैं । 'काल' का पहला विशेषण है 'अश्व' अर्थात् तीव्रगामी, तेज चलने वाला । समय इस तेज़ी से दौड़ता है कि तेज से तेज यान भी उस की समता नहीं कर सकते । पल मात्र में समय व्यतीत हो जाता है । हम उस को रोक नहीं सकते । उसके लिये "बहति" (बहना) क्रिया का प्रयोग किया है । जैसे जल बहता है उस प्रकार समय की धारा बहती है । काल का दूसरा विशेषण "सप्तरश्मिः" अर्थात् सात किरणोंवाला है । सूर्य्य की भी सात ही किरणें हैं । मुख्य मुख्य रङ्ग भी सात ही हैं । इसी प्रकार काल के भी सात रङ्ग या बहुत से रङ्ग हैं अर्थात्

संसार की विचित्र वस्तुयें सभी इस काल में स्थित हैं। काल का तीसरा विशेषण "सहस्राक्ष" है। अर्थात् इसकी बहुत सी आंखें हैं। यह सभी वस्तुओं को देखता है। कोई इसकी आंखों से ओझल नहीं हो सकता। हम काल से छिप कर कोई काम नहीं कर सकते। यह "भूरिरेताः" अर्थात् बहुत बलवान है। काल से अधिक बलवान कोई नहीं। "अजरो" अर्थात् इतनी तेज़ी से भागने पर भी यह बुडढा नहीं होता! इसके अन्तर्गत सभी चीज़ें बुडढी हो जाती हैं परन्तु यह नित्य युवा बना रहता है। इसका बल कभी घटता नहीं। इस मंत्र के दूसरे भाग में काल की रथ से उपमा दी है। जिस प्रकार रथ के पहिये होते हैं उसी प्रकार यह सभी लोक लोकान्तर काल रूपी रथ के पहिये हैं। रेल गाड़ी जब लोहे की पटरियों पर चलती है तो इसके बहुत से पहिये तेज़ी से घूमते दिखाई पड़ते हैं। इन का तेज़ी से घूमना ही रेल गाड़ी का चलना है। इसी प्रकार हम भी समय की तेज़ी का अनुमान इसके अनेक लोक लोकान्तरों के घूमने से ही लगा सकते हैं क्योंकि यही तो इस रथ के पहिये हैं। सूर्य्य उदय होता है, ऊपर चढ़ता है। अस्त हो जाता है। चन्द्र तथा अन्य नक्षत्र-बड़ी तेज़ी से घूमते हैं। इन्हीं की गति को देखकर कहते हैं कि काल दौड़ रहा है।

ऐसे तेज़ दौड़ने वाले काल पर कौन चढ़ सकता है? इसका उत्तर वेद मंत्र देता है कि केवल विद्वान् और परमज्ञानी पुरुष ही काल के ऊपर सवार हो सकते हैं। जो विद्वान् नहीं हैं वह तो इस रथ के पहियों से कुचल डाले जाते हैं। या इन्हीं पहियों के साथ घसिटते रहते हैं। समय उनको जिधर बहा ले जाता है उधर ही बह जाते हैं। वे उस कूड़ा करकट के समान हैं जिनको नदी का प्रवाह एक स्थान से दूसरे स्थान पर पटक देता है। तैराक पुरुष नदी के साथ बहने के लिये नहीं बनाया गया। वह नदी के वेग का मुक़ाबिला करने के लिये बना है। वह नदी के वेग को रोक कर उसके विरुद्ध चलता और नदी की गति को विफल कर देता है। इसी प्रकार विद्वान् पुरुष संसार की गति को बदल देता है। वह इतने प्रबल और तीव्रगामी काल से भी ऊपर है। काल उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। काल रूपी रथ वस्तुतः इन्हीं विद्वानों के चढ़ने के लिये हैं। विद्वान् और ज्ञानी पुरुष काल से प्रभावित नहीं होते किन्तु काल को अपने बश में करके अपनी इच्छा के अनुसार उससे कार्य्य लेते हैं।

राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन और दयानन्द

[श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०]

(गतांक से आगे)

[२]

राम मोहन राय सन् १८३० ई० में इङ्गलैण्ड चले गये और वहीं १८३३ ई० में उनका देहान्त हो गया। ब्रह्म समाज उनके पीछे भी चलता रहा। परन्तु इस की चाल भिन्न भिन्न थी। कभी तेजी से चलता था कभी सुस्ती से। बंगाल की जनता ने इसका विरोध ही किया क्योंकि पुरानी लकीर के फ़कीर ब्राह्मण मूर्ति पूजा को छोड़ना नहीं चाहते थे। कुलीनों को बहु विवाह द्वारा धन कमाने और मौज उड़ाने की आदत पड़ गई थी। अतः उनके लिये ब्रह्म समाज में प्रवेश करना बड़ा कठिन था। परन्तु कुछ पढ़े लिखे मनुष्य अवश्य ब्रह्म समाज में प्रविष्ट हो जाते थे। कुछ दिनों पश्चात महर्षि देवेन्द्र नाथ टागौर इसके प्रधान आचार्य थे।

परन्तु ब्रह्म समाज एक संकट की अवस्था में था। उसका मार्ग एक तङ्ग बाटिका थी जिसकी एक ओर बहुत ऊंचा पहाड़ और दूसरी ओर बहुत गहरी खाई थी। पण्डित वर्ग तुले हुये थे कि राजा राममोहन राय के काम पर पानी फेर दें। परन्तु उस समय बङ्गाल की शिक्षित जनता के विचारों में घोर परिवर्त्तन हो रहा था। अंगरेजी शिक्षा बढ़ रही थी डैरोजियो (Derozio) और डैविड हैर (David Hare) जो छात्र वर्ग के गुरु समझे जाते थे उनको घोर नास्तिकता और अनाचार की शिक्षा दे रहे थे। इन्होंने सदाचार की जड़ों को मट्ठा पिला दिया था। हिन्दू छात्र माता पिता का विरोध करना, मद्य पीना, गोमांस खाना अपना परम कर्तव्य समझने लगे थे। ब्रह्म समाज में वेद, उपनिषद् आदि का अध्ययन बन्द था। जो लोग स्वतंत्र विचार के थे और पुराने पण्डितों की कुप्रथाओं को बुरा समझते थे वे वैदिक-साहित्य को न पढ़ने के कारण उससे भी अपनी जान छुड़ाना चाहते थे। ब्रह्म-समाजियों से मूर्ति पूजा छूटी नहीं थी। वे केवल साप्ताहिक सत्संगों में वैदिक प्रार्थनाओं में सम्मिलित हो जाते थे परन्तु उनके घरों में मूर्ति-पूजा यथा पूर्व होती थी। महर्षि देवेन्द्र नाथ टागौर मूर्ति पूजा नहीं करते थे। परन्तु दुर्गा पूजा के दिनों में घर छोड़ कर यात्रार्थ चले जाते थे।

केवल इन्हीं के परिश्रम से ब्रह्म समाज का प्रातः काल का दीपक टिम टिमा रहा था। उन्होंने बहुत कोशिश की परन्तु अधिक सफलता नहीं हुई।

ऐसे समय कलकत्ते में बाबू केशव-चन्द्र सेन का प्रादुर्भाव हुआ। यह बड़े तार्किक, तीक्ष्ण बुद्धि और विद्वान् युवक थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने इस युवक को देखा और तुरन्त ही ताड़ गये कि यह होनहार पुरुष ब्रह्म समाज के लिये उपयोगी होगा। केशव बाबू १८५७ ई० में ब्रह्म समाज में सम्मिलित हो गये और प्रवेश पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

केशव के आते ही ब्रह्म समाज में जान सी पड़ गई, मानो किसी ने टिम-टिमाते दीपक में तेल दे दिया या सूखी बनस्पति के लिये वर्षा आ गई। केशव बाबू का बंगाली युवकों पर बड़ा प्रभाव था। वह उच्च वक्ता थे, वह नाटक भी अच्छा खेलते थे। वह ईश प्रार्थना से बड़ा प्रेम रखते थे। उन्होंने बहुत से छोटे बड़े क्लब खोले थे। ब्रह्म समाज में आकर उन्होंने उसको संगठित करना आरम्भ किया। उनका घर धनाढ्य था परन्तु वे लोग नये विचारों से घृणा करते थे। सब से पहले घर वालों से समुद्र यात्रा पर विरोध हुआ और वे महर्षि जी के साथ लङ्का चले गये। उन्होंने अपनी स्त्री को ब्रह्म समाज में लाना चाहा। सब घर वाले विरोध करने लगे। केशव बाबू पुलिस में रिपोर्ट करने पर उतारू हो गये और अपनी स्त्री को टागोर महाशय के घर ले आये। टागोर का परिवार मुसल्मानी समय से बहिष्कृत समझा जाता था क्योंकि उनके किसी पूर्वज ने किसी बादशाह की रकाबी का मांस सूंघ लिया था। यह बात केशव के घर वालों के लिये असह्य थी। उन्होंने तुरन्त ही इनको लिख भेजा कि आज से तुम को घर में लौटने की आज्ञा नहीं। केशवचन्द्र सेन इन सब कठि-नाइयों का वीरता से सामना करते रहे। महर्षि देवेन्द्र नाथ टागोर के परामर्श से केशवचन्द्र सेन को ब्रह्म समाज का मिनिस्टर या आचार्य बना दिया गया और महर्षि जी प्रधान आचार्य कह-लाते थे।

परन्तु महर्षि देवेन्द्र नाथ और केशव चन्द्र सेन के विचारों में बहुत भेद था। हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं कि राम मोहन राय वेदों और वैदिक संस्कृति के पक्षपाती थे। वह सुधार भी चाहते थे तो वैदिक संस्कृति को स्थापित रखते हुये। केशव बाबू नई रोशनी के प्रतिनिधि थे। युवक समाज पुरानी प्रथाओं को अत्यावश्यक ही नहीं किन्तु हानिकारक समझता था। महर्षि जी में राजा राम मोहन राय की सी मौलिकता और दृढ़ता न थी। उन्होंने १८५० ई० में ही परिस्थिति से मजबूर

होकर वेदों के स्वतः प्रमाण मानने का नियम शिथिल कर दिया था। केशव बाबू ने एक संगत सभा खोली थी। इस ने जब यज्ञोपवीत की प्रथा को ढौंग बताया तो महर्षि देवेन्द्र नाथ ने अपना जनेऊ उतार दिया और केशव चन्द्र सेन के नीचे जो दो आचार्य नियत किये गये वे भी उपवीत धारी न थे। यह सब देवेन्द्र बाबू ने केशव बाबू से विरोध न हो इसी लिये किया था यद्यपि वे स्वयं तो बहुत कुछ वेदों के पक्षपाती थे। एक कठिनाई थी। देवेन्द्र बाबू सामाजिक सुधार में बहुत पीछे थे। पं० ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह की प्रथा को वैदिक सिद्ध कर दिया था और बड़े परिश्रम से वह विधवा विवाह का कानून भी १८५६ ई० में पास करा चुके थे परन्तु देवेन्द्र बाबू इसको विहित नहीं समझते थे और अन्तर्जातीय विवाह के भी विरुद्ध थे। ब्रह्म समाजियों में पहला अन्तर्जातीय विवाह १८६२ ई० में हुआ था और केशव बाबू तथा उनके साथियों में इस विषय में उत्साह था परन्तु देवेन्द्र बाबू इसको अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। इस प्रकार यद्यपि देवेन्द्र और केशव में वैदिक मैत्री थी तथापि ब्रह्म समाज का काम दो भिन्न भिन्न प्रकृतियों और मंतव्यों के महारथियों में बंटा हुआ था।

केशव बाबू पर ईसाइयत का प्रभाव अधिक था। वे बहुत आगे बढ़ना चाहते थे। उनके मस्तिष्क में उपज भी बहुत थी। वह धुन के भी बड़े पक्के थे। वह नित्य नये प्रोग्राम सोचा करते थे। देवेन्द्र नाथ जी के मित्रों ने उनको चुपके चेतावनी भी दी थी कि इस युवक से सावधान रहना, कहीं वह संस्था को भी हाथ से न निकाल ले जाय। महर्षि देवेन्द्र नाथ टागौर ने पहले छः वर्ष तक उनकी हां में हाँ मिलाई और भरसक यत्न किया कि केशव बाबू का उत्साह ब्रह्म समाज के हित के ही लिये व्यय हो। परन्तु अन्त में उनका माथा भी ठनका! देवेन्द्र नाथ एक आदर्श हिन्दू समाज स्थापित करना चाहते थे। और ब्रह्म समाज में उपनिषदों के प्राचीन धर्म को प्रविष्ट करना चाहते थे। बाबू केशव चन्द्र सेन के विचार परिपक्व नहीं थे। उनका मन इतना तीव्रगामी था कि उनको एक विचार पर स्थित रखना कठिन था। उनका कोई स्थायी प्रोग्राम ही नहीं था। एक बात थी। ब्रह्म समाज ने आरम्भ से ही जाति-पांति भेद का खण्डन किया था परन्तु अब तक ब्रह्म समाज की वेदी पर केवल ब्राह्मण ही चढ़ सकते थे। केशव बाबू अब्राह्मण थे परन्तु इसके साथ ही वह ब्राह्मणों का केवल उनकी जाति या जन्म के कारण आदर नहीं करते थे। केशव बाबू ने बहुत से ब्राह्मण मित्रों के जनेऊ तुड़वा डाले थे।

देवेन्द्र नाथ को बुरा लगा। उन्होंने सोच लिया कि अब आगे चुप रहना पाप है। एक अवसर भी प्राप्त हो गया। ब्रह्म समाज का मन्दिर गिर पड़ा और साप्ताहिक संग महर्षि देवेन्द्रनाथ के मकान पर होने वाला था। नौम्बर १८६६ ई० का बुधवार था। महर्षि ने पहले दो उपाचार्यों को जो जनेऊ न तोड़ने के कारण पहले उपाचार्य पद से च्युत कर दिये गये थे वेदी पर चढ़ा दिया। केशव बाबू ने विरोध किया। महर्षि ने कहा कि "यह मेरा घर है मैं जैसा चाहूँगा करूँगा", केशव बाबू ने कहा "कि घर अवश्य है पर इस समय तो ब्रह्म समाज का सत्संग हो रहा है। आपका घर एक प्रकार का समाज मन्दिर ही है।"

यह युक्तियां तो ऊपरी थीं। मनमें पहले से ही मैल आ चुका था। बस केशव बाबू अपने मित्रों सहित अलग होगये। और उन्होंने "भारतवर्षीय ब्रह्म समाज" (The Brahma Samaj of India) नाम की एक नई संस्था खोल ली। पहले ब्रह्म समाज का नाम अब आदि ब्रह्म समाज होगया।

इस प्रकार केशव बाबू स्वतंत्र हो गये और प्राणपन से अपनी नई संस्था की उन्नति में दत्तचित्त हुये। इसके सिद्धान्त गुरु गोविन्द राय ने संस्कृत में लेखबद्ध किये जिसका अनुवाद यह है:—"वृहत् संसार ईश्वर का मन्दिर है। बुद्धि पवित्र तीर्थस्थान है। सत्य ही नित्य वेद है। श्रद्धा धर्म का मूल है। प्रेम सच्ची आत्मिक शिक्षा है स्वार्थ का नाम सच्चा सन्यास है, ब्रह्म समाज ऐसा मानता है।" भारतवर्षीय ब्रह्म समाज के इन सिद्धान्तों और राजाराम मोहन राय की स्थापित आदि ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का अन्तर था। आदि ब्रह्म समाज वेद और वैदिक संस्कृति का उद्धारक था। केशव बाबू के ब्रह्म समाज के सिद्धान्त वस्तुतः कोई सिद्धान्त न थे। सभी धर्म इतनी बातें तो मानते ही हैं। इन सिद्धान्तों के शब्द बड़े रोचक हैं और ऊपरी दृष्टि से देखने से प्रतीत होता है कि किसी संस्था के लिये इनसे उपयोगी सिद्धान्त हो ही नहीं सकते। परन्तु आजतक कोई संस्था केवल इन सिद्धान्तों को लक्ष्य में रखकर आगे नहीं चल सकी। यदि हम न्याय की भाषा में कहें तो इन सिद्धान्तों में अतिव्याप्ति दोष है। कौन सा धर्म अथवा कौन सी संस्था है जो इस प्रकार के सिद्धान्तों के मानने से इनकार करे। परन्तु भेदक चिह्न न होने के कारण समाज के सभासदों के सामने कोई ऐसा लक्ष्य नहीं रह जाता जिस तक वह आगे चल सके। कथन मात्र के लिये तो यह ठीक है कि ऐसे विस्तृत नियम बनाकर केशव बाबू ने अपने समाज को सर्व-

प्रिय बना लिया। वेद को मानना, यज्ञोपवीत पहनना आदि आदि बाधायें दूर हो गई। उनके धर्म का द्वार ईसाई, मुसलमान हिन्दू आदि सब के लिये खुल गया। आरंभ में इस समाज को वह सर्व प्रियता प्राप्त हुई कि देवेन्द्र बाबू भी दांत तले उँगली दबाते रह गये। उनको अपेक्षतः अपना समाज छोटा प्रतीत होने लगा। उसके गिने चुने सभासद रह गये। परन्तु उन्होंने निश्चय कर लिया कि इस छोटे समाज को राजा राममोहन राय के प्रदर्शित मार्ग पर चलाया जायगा।

केशव बाबू के साथियों ने जो पुरानी संगतसभा के युवक सदस्य थे एक प्रचारक मंडल बनाना चाहा। उन्होंने आत्म-त्याग का प्रण किया। उन्होंने धन कमाने के व्यवसाय छोड़ दिये। हर एक सभा के दान पात्र से प्रति दिन कुछ पैसे निकाल लेता और उसी से निर्वाह करता। आरम्भ में यह लोग सात-आठ थे अब चौबीस-पच्चीस हो गए। यह सब ऐसे धुन के थे कि दिन भर स्वाध्याय और प्रार्थना तथा धार्मिक कार्यों में लगे रहते थे। एक को फेफड़े का रोग भी था और उसके पास पहनने को कपड़े तक न थे। परन्तु आत्मिक-उन्नति की धुन में शारीरिक कष्टों की कोई परवाह नहीं करता था। उनका सिद्धान्त था कि "कल की परवाह मत करो।" ऐसा आत्म-त्याग चाहे उसके सिद्धान्त कैसे भी हों संसार को आकर्षित किए बिना नहीं रह सकता।

परन्तु आत्म-त्याग और अथाह उत्साह के साथ ही मर्यादित कार्य-क्रम (Definite programme) भी चाहिए। यदि कोई आचार्य अपने शिष्यों से कह दे कि "संसार तुम्हारा लक्ष्य है। चारों ओर मार्ग बने हुए हैं। जिधर चाहो दौड़ चलो।" तो कोई कार्य सिद्ध नहीं होने का। केशव बाबू के इस नए समाज की यही अवस्था थी। इसका अनुभव उनके अनुयायियों को तो न हुआ परन्तु वह स्वयं इस त्रुटि का अनुभव करने लगे। उनको देवेन्द्र बाबू जैसे अनुभवी और बुद्धिमान पुरुष के परामर्श का अभाव पीड़ा देने लगा। परन्तु अब हो भी क्या सकता था। अब वह कलकत्ते से कुछ दूर पर अपने एक पैतृक बाग़ में एकान्त सेवन करने लगे। यकायक उनके मन में स्फूर्ति हुई और उन्होंने मार्च १८६६ ई० में कलकत्ता मैडिकल-कालेज-थिएटर में "ईसा-मसीह, यूरोप और एशिया" (Jesus Christ, Europe and Asia) विषय पर एक प्रभावशाली व्याख्यान दे डाला। इसके कुछ वाक्य उद्धरण करना अत्यावश्यक है :—

(1) Christ's influence, but small rivulet at first, increased in depth and breadth as it rolled along, and swept away

in its irresistible tide the impregnable strong holds of error and superstition, and the accumulated corruptions of centuries.

"ईसा मसीह का प्रभाव आरम्भ में एक छोटा सा नाला था जो आगे चलकर अधिक चौड़ा और गहरा होता गया और अपने तीव्र बहाव के साथ असत्यता और मिथ्या-विचारों के दुर्जेय क़िलों तथा शताब्दियों से इकट्ठे हुए कूरे करकट को बहा ले गया।"

(2) "Sent by providence to reform and regenerate mankind he received from Providence power and wisdom for that great work."

"ईश्वर ने उसको मनुष्य जाति के सुधार और पुनर्जीवित करने के लिए भेजा था। इसलिए ईश्वर ने उसको शक्ति और बुद्धि भी प्रदान की थी।"

(3) "His tenderness and humility, lamb-like meakness and sympathy, his heart full of mercy and forgiving kindness."

"उसकी कोमलता और विनम्रता, मैमने के समान दीनता और सहानुभूति, उसकी दया और क्षमा से परिपूर्ण हृदय"।

(4) "His firm, resolute, unyielding adherence to truth."

"उसकी सचाई के प्रति दृढ़, अटल, और निश्चल लग्न।"

(5) "Verily, Jesus was above ordinary humanity."

"सचमुच ईसा मसीह साधारण मनुष्य-जाति से उच्च था।"

(6) "Was not Jesus an Asiatic ? I rejoice, yea, I am proud in that I am an Asiatic. In fact christianity was founded & developed by Asiatics in Asia. When I reflect on this, my love for Jesus, becomes a hundredfold intensified. I feel him nearer my heart, and deeper in my national sympathies."

"क्या ईसा मसीह एशिया का नहीं था। मुझे हर्ष है, नहीं नहीं, अभिमान है कि मैं एशिया का हूं। वस्तुतः ईसाई धर्म को एशिया वालों ने एशिया में स्थापित और उन्नत किया! जब मैं यह विचार करता हूं तो ईसामसीह के लिये मेरा प्रेम सौ गुना हो जाता है। मैं उसको अपने हृदय के अधिक निकट और अपनी जातीय प्रीतियों की गहराई में अनुभव करता हूं।"

इस व्याख्या से केशव चन्द्रसेन की ख्याति बहुत बढ़ गई। उन्होंने ईसाई

धर्म के प्रति भारतवासियों को जो घृणा थी उसको कम कर दिया। उनके ईसाई दोस्त तो समझने लगे कि अब क़िला उनके हाथ में है। परन्तु आदि-ब्रह्म-समाज वालों ने अपने को केशव-बहिष्कार पर बधाई दी। उन्होंने समझा कि केशव का निकलना अच्छा ही हुआ, न जाने वह ब्रह्मसमाज को किस रसातल तक ले जाता। लोगों ने समझा कि अब केशव बाबू ईसाई हुआ चाहते हैं। कलकत्ता हाईकोर्ट के जज मास्टर नार्मन (Mr. Norman) ने उस व्याख्यान की एक कापी तत्कालीन वायसराय लार्ड लरेंस को दी। उन्होंने इसको ऐसा प्रसन्न किया कि तुरन्त ही केशव बा० को चिट्ठी लिखी और अवकाश मिलने पर भेंट की इच्छा प्रकट की।

परन्तु केशव बाबू चिन्ता में पड़ गये। उनमें भावुकता बहुत थी। उनकी बुद्धि की तेज़ी उनके क़ाबू से बाहर थी। यह व्याख्यान उसी का परिणाम था। वह ईसाई होना नहीं चाहते थे। वह कहने लगे कि जनता में मेरे विषय में भ्रम हो गया। इसमें जनता का इतना दोष नहीं था। वस्तुतः यह उनका ही दोष था। इस भ्रम को दूर करने के लिये उन्होंने कलकत्ते के टौन हाल में "महापुरुष" (Great men) विषय पर एक और व्याख्यान दिया। इसमें उन्होंने पैगम्बरों, त्रैतवाद, ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान पर अपने विचित्र विचार प्रकट किये। उन्होंने कहा कि ईश्वर मनुष्य जाति के प्रति तीन प्रकार से अपना प्रकाश करता है (१) एक तो सृष्टि द्वारा, "Behold the supreme Creator & Ruler of the Universe immanent in matter." "जगत् के महान कर्त्ता और शासक का सृष्टि में व्यापक देख।" (२) दूसरा इतिहास द्वारा "There is anther revelation; there is God in History. He who created and upholds this vast universe also governs the destinies and affairs of nations." "एक दूसरा प्रकाश है अर्थात् इतिहास में व्यापक ईश्वर! जिसने इस विस्तृत जगत् को उत्पन्न और धारण किया वही जातियों के भाग्य तथा कार्य्यों का भी शासक है।"

(३) आत्मा द्वारा। "The highest revelation is inspiration where spirit communes with spirit, face to face, without any mediation whatever." "सब से उच्च ईश्वर का प्रकाश आत्मा में होता जब आत्मा परमात्मा का साक्षात् करता है और उन दोनों के बीच में कोई दूसरा साधक या शफ़ीय या बिचौलिया नहीं होता।"

केशव बाबू ने कहा कि यही महापुरुष हैं जो ईश्वर का साक्षात् करते हैं।

वे मनुष्य होते हुये भी देव होते हैं। यह व्याख्यान दिया तो गया था भ्रम दूर करने के लिये। परन्तु हुआ उलटा ही परिणाम। ईसाइयों ने कहना आरंभ कर दिया कि केशव बाबू हिन्दुओं से डर गये। इसी लिये जो कुछ ईसा के विषय में कहा था वह दूसरे महापुरुषों के विषय में भी कह डाला। अब ईसाकी विशेषता ही क्या रही। एक प्रकार से यह बात थी भी ठीक। यदि केशव बाबू पहले "महापुरुषों" पर व्याख्यान देकर तब "ईसा" पर देते तो लोगों को भ्रम का अवसर न मिलता। मेरी समझ में केशव बाबू जितने चमत्कार-मय (illustrious) पुरुष थे उतने महापुरुष (Greatman) नहीं। उनके मौलिक विचार तो कुछ थे नहीं, उन्होंने कोई संग्राम देश या मनुष्य जाति के सामने नहीं रक्खा। उनमें श्रद्धा और भक्ति बहुत थी। जब उसमें उबाल आता था तो स्वयं वह भी उसको रोक नहीं सकते थे। उन्होंने प्रोफेसर सीली (Prof. Seely) की एक पुस्तक "महापुरुष" (Ecce Hom) पढ़ी थी। उसको पढ़कर ईसा के भक्त हो गये थे और वह व्याख्यान दे डाला था। पीछे से उस पर उन्होंने अपने निज विचार भी जोड़ लिये।

अब केशव बाबू ने पूर्वी बङ्गाल में पर्यटन करके प्रचार करना आरंभ किया। उनके व्याख्यानों का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। पुराने लोग डर गये। उन्होंने लोगों को ब्रह्मसमाज से बचाने के लिये हरि सभा, धर्म सभा तथा आर्य्य सभायें खोलना आरंभ किया। केशव बाबू ने ऐसे जोश और आत्म-त्याग से प्रचार किया कि वह बीमार हो गये। और बहुत दिनों तक उनके मस्तिष्क की अवस्था विचलित रही। इस समय उनको कोई परामर्श देने वाला न था। उनका ईश्वर पर अटल विश्वास था। उनको कुछ कुछ यह भी प्रतीत होने लगा था कि ईश्वर उनको आदेश किया करता है और उनको दिव्य स्फूर्ति हुआ करती है। इसी समय अर्थात् १८६७ ई० में उनकी अचानक "चैतन्य महाप्रभु" पर अत्यन्त भक्ति होगई। अब क्या था ब्रह्म समाज की प्रार्थना वैष्णव रंग में रंग गई। "ब्रह्म संकीर्तन" होने लगा। केशव बाबू नंगे पैरों मीलों संकीर्तन के साथ फिरते और करताल आदि बजाते। इस प्रकार भारतीय ब्रह्म समाज की प्रार्थना में ईसाई प्रार्थनाओं और वैष्णव-प्रार्थनाओं का मिक्स्चर (मिश्रण) रूप थीं।

(क्रमशः)

मांस-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

[राजरत्न मास्टर आत्मा राम जी, बड़ौदा]

प्रश्न

आदि वैदिक काल में आदि आर्य्य लोग मांस भक्षी थे। पीछे जाकर आर्य्य जाति ने जैन मतवालों से मांस का त्याग सीखा।

उत्तर

आप और हम दोनों बाजार से एक पुस्तक मोल लेने चलें जो वायुयान संबंधी हो, जिसमें विमान बनाने की पूर्ण विधि अङ्गरेजी में लिखी हो। इस पुस्तक को पढ़ लेने के पीछे क्या मैं या आप विमान बनाकर फौरन ही उसमें लोगों को बिठाने का निमंत्रण देसकेंगे या नहीं। मैं और आप दोनों कहेंगे कि नहीं। कारण कि विमान बनाने के लिये हमें व्यावहारिक प्रयोग करने के लिये बैठना होगा और कई वर्षों के प्रयोग के पीछे हम विमान बनाने में सफल हो सकते हैं। यह एक दृष्टान्त है।

दूसरा दृष्टान्त एक और लीजिये। मैं या आप अपनी माताओं को ५० वर्ष से रोटी आदि बनाते देखते हैं और एक पुस्तक भी मौजूद है जिसमें आटा गूंधने रोटी सेकने और परौंठे बनाने आदि की पूरी विधि लिखी है। क्या मैं या आप परौंठे वा खाने योग्य रोटी पहिले दिन ही वैसी उत्तम बना सकेंगे जैसी कि हमारी दोनों की माताएं बनाती हैं? मैं और आप दोनों कहेंगे कि नहीं। हमको उत्तम रोटी आदि बनाने के लिये कई मास तक बनाने का अभ्यास करना होगा। और इस अभ्यास में हमें मानना होगा। कि "Man errs because he learns" बच्चा गिरे बिना चलता नहीं।

इन दृष्टान्तों के साथ आओ अब हम कल्पना करें कि वेद में "सब प्रकार के भोजन" खाने के मंत्र हैं जैसे कि वादी का पूर्व पक्ष है अर्थात् (१) मांस खाने और (२) फल अन्न खाने के भी। ऊपर के सच्चे दृष्टान्तों से यह तो हम जान गये हैं कि कि यदि कोई मनुष्य वैदिक आदि-काल में वेदमंत्र सुनकर मांस पकाकर खाना चाहे तो उसको कई वर्ष उसके अभ्यास में लगाने चाहियें। सबसे प्रथम इस आदिम मनुष्य को लोहा कान से खोद कर लाना होगा। फिर उस लोहे को आग में डाल कर शुद्ध और पिघलाकर उसकी छुरी बनाने का काम करना होगा। छुरी बना कर उसको पशुओं के पीछे भागना होगा और कई मास के भागने पर वह पकड़ने में सफल होगा। फिर उस जङ्गली बकरे को जो यह पकड़ कर लाया है अपनी छुरी से अपने हाथों वध करना होगा और वध करते समय अन्दर से अन्तर्यामी

ईश्वर की प्रेरणा इस के मनमें निस्सन्देह भय शंका और लज्जा उत्पन्न किये बिना नहीं रहेगी। बहुत संभव है कि वह इस भय शंका उत्पादक प्रेरणा के कारण बकरे को बिना मारे ही छोड़दे और यह भी संभव है कि कड़ा मन करके आत्मघाती वा क्रूर मनुष्य के समान वध करने के लिये उसकी गरदन दबाकर बैठ ही जावे। अब यह छुरी चलाने लगा है उधर बकरे ने करुणा-जनक रुदन करना या चीखना व तड़पना आरंभ कर दिया है। पहली बार मारने का संकल्प करने पर भय शंका इसके मन में हुई थी अब बकरे की चीखों से मन में जरूर पुनः भय शंका लज्जा हो रही है। दुबारा आत्मघाती बनने पर चलो इस आदिम मनुष्य ने बकरा मार डाला। अब वह उसकी खाल उतारने लगा है—मरे हुए पशु के मांस आदि की दुर्गन्ध उसकी नई नाक को निस्सन्देह बुरी लगती है—हड्डी पसली आदि का दृश्य भी अति भयंकर वा अप्रिय है ही। सब कुछ सहकर अब यह मांस को बिना नमक और बिना घी वा तैल के पकाता है। यह मांस इस आदिम मनुष्य के गले के नीचे नहीं उतरता। कै पर कै करता है। कुछ देर ठहर कर फिर नया हठ पकड़ता है और कै बन्द करने के लिये नमक, जीरा, हलदी, घी वा तेल डालकर पकाता है। अब इसको कै नहीं आती और आदिम मनुष्य मांस खा रहा है। इस कहानी से हम अनुमान कर सकते हैं कि आदिम मनुष्य को चाकू वा छुरी बनाने, बकरा पकड़ने, उसके मारने, उसके मांस को पकाकर खाने तक की दशा में पहुंचने के लिये कम से कम दश वर्ष चाहिये।

अब आदि वैदिक काल का दूसरा मनुष्य है जो मांस नहीं खावेगा किन्तु फल मेवा और अनाज। जिस जगह यह मनुष्य पैदा हुआ उसी जगह पर इसके सामने फलों, मेवों वा अनाजों के वृक्ष खड़े हैं। केला, सेब, नारंगी अमरूद नारियल, खजूर, बादाम, आम, द्राक्ष चने और गेहूं आदि सब हैं। इनके सुन्दर रूप इनकी उत्तम सुगंधि इसको खाने की शुभ प्रेरणा करती है। इन फलों वा अनाजों को खाने के लिये आदिम मनुष्य के दांत बनमानस बन्दरों के समान खूब ही मजबूत हैं। जन्म के साथ ही एक दिन में यह आदिम मनुष्य फल अन्न का आहार कर सकता है। इसको दस वर्ष नहीं चाहियें। इस लिये वैदिक वा सृष्टि के आदि काल में निस्सन्देह मनुष्य फलाहारी था न कि मांस-भक्षी।

बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् डा० अविनाशचन्द्र दास M. A. Ph. D. ने Rigved Culture नामी अङ्ग्रेजी में पुस्तक लिखी है। इस के पढ़ने से पता लग जावेगा कि आदिम मनुष्य वैदिक

काल का फलाहारी था मांसभक्षी नहीं।

ईसाई तथा मुसलमानों मतों की धर्मपुस्तकों में वर्णन है कि हजरत आदम बागे अदन में रखे गये यह सत्य बात भी हमारे कथन की पुष्टि करती है। हमारे प्रश्न करने वाले आर्य्य इतिहास को भी मानते हैं—इस लिये महाभारत के आदि पर्व में वह देखलें कि आदि मनुष्य समाज को उक्त ग्रन्थ ने ब्राह्मण वर्णी लिखा है। और ब्राह्मण वर्णी लोग सात्विक होते हैं और मांस आदि नहीं खाते।

अतः प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का उत्तर अब आ गया कि वैदिक आदिकाल में वैदिक धर्मी फलाहारो थे मांसभक्षी नहीं और जैनमत ने यदि वाममार्ग दूर करने के लिये फलाहारी बनाने का उपदेश किया तो पुरानी वेद की बात का पुनः प्रचार किया।

अब एक मत से यूरोप और अमरीका के सब डाक्टर फल तथा अन्न को मनुष्य का Natural Food कह रहे हैं। यह भी वैदिक धर्म की जय नहीं तो क्या है? इति



श्री महात्मा नारायण स्वामी जी

(गतांक से आगे)

यह वाणप्रस्थ नाम का न था। मुन्शी जी वास्तविक प्राचीन काल के "बनी" की भांति रहना चाहते थे। घोषणा करदीगई थी कि कुछ काल के लिये किसी उत्सव में सम्मिलित न होंगे किसी से विशेष पत्र-व्यवहार न करेंगे। केवल आत्मोन्नति में संलग्न रहेंगे। और रहेंगे कहां? आजकल बन कहां? नियत समय से पूर्व ही मुन्शीजी ने हिमालय पर्वत के परिचित स्थान छान मारे थे। हृषिकेष, लछमन झूला आदि कोई स्थान अनुकूल और शान्तिप्रद प्रतीत न हुआ। अलमोड़े के निकटवर्त्ती स्थान भी देखे गये। अन्त को काठ गोदाम और अलमोड़े की पुरानी सड़क के बीच में तल्ली रामगढ़ से २॥ मील नीचे रामगाढ़ो नदी के तीर एक स्थान पसन्द आया। यहाँ से पहाड़ी गांव रामगढ़ नायकावा कुछ दूर पर है और थोड़ी थोड़ी दूर पर पहाड़ी लोगों के गांव भी वृत्तों के घोंसलों के समान इधर उधर लटकते दिखाई पड़ते हैं। यही जङ्गल था। इसी को थोड़ा सा साफ़ करके कुटिया बना ली और रहने लगे।

यहां मुन्शीजी शीतकाल में भी रहे। कोशिश यह थी कि सब प्रकार की ऋतुओं का सहन कर सके, वाणप्रस्थ आश्रम वस्तुतः सन्यास के लिये तैय्यारी है। मुंशी जी इसी तैय्यारी में लगे हुये थे। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक निर्बलताओं को दूर किये बिना कोई सन्यासी नहीं बन सकता। रहे गेरुये कपड़े। यह तो इस युग में आवश्यकता से अधिक बदनाम हो चुके हैं। दो वर्ष तक योगाभ्यास, तप और स्वाध्याय करते रहे। तत्पश्चात् सन्यास लेकर महात्मा नारायण स्वामी के नाम से विभूषित हुये।

पहाड़ों में वैदिक प्रचार का नाम तक नहीं है। परन्तु जब से स्वामीजी रामगढ़ में पधारे हैं उनके प्रकाश की किरणें

अनायास ही पड़ोस को प्रकाशित कर रही हैं। उनके अस्तित्व का ठप्पा पत्थरों के टुकड़े टुकड़े पर है। आस पास कोसों तक पढ़े और बेपढ़े सभी प्रभावित हैं, कुटी से एक फर्लांग की दूरी पर एक छोटा सा सुन्दर आर्य समाज का मन्दिर है। मैं इस को देखकर चकित हो गया। मैंने मंत्री से पूछा, "आप ने तो बहुत सुन्दर मन्दिर बना लिया"। वह कहने लगे, "इसमें आश्चर्य ही क्या? क्या आप नहीं जानते कि यहां आर्य्य समाज के उच्चतम पदाधिकारी निवास करते हैं।" मैं टहलने निकलता हूँ तो छोटे छोटे अपरिचित बच्चे बड़े प्रेम से नमस्ते करते हैं। आस पास के लोग आर्य्य समाज को अच्छा समझने लगे हैं। यह सब स्वामीजी के ही प्रभाव का फल है।

स्वामीजी की कुटी जिसका नाम "नारायण आश्रम" है एक छोटी सी स्वच्छ कुटी है। इसमें वेद शास्त्र तथा सिद्धान्त-सम्बन्धी उपयोगी और दुष्प्राप्य दो सहस्र के लगभग पुस्तकें हैं। इतनी बड़ी प्राइवेट लाइब्रेरी समाज में शायद ही हो और आर्य्यसमाजों के पुस्तकालयों में भी इससे आधी भी पुस्तकें नहीं मिलतीं। कुटि के आस पास स्वामीजी ने अपने हाथों बाग लगाया है। जब स्वामीजी आश्रम में विश्राम करने के लिये आते हैं। तो नित्य घण्टे दो घण्टे बाग को देखते हैं। यह कुटी कैसे भयानक स्थान में है इसके दो उदाहरण दिये जाते हैं। एक बार स्वामी जी कुछ खाना पकाकर कुटी के नीचे के भाग से ऊपर के भाग में लारहे थे। आने के लिये केवल छोटी सीढ़ियाँ हैं। जिनमें खड़े होने भर को जगह है। स्वामी जी द्वार पर पहुंचे तो देखते क्या हैं कि जंगली रीछ भीतर बैठा है। यदि वह आक्रमण करता तो बचना कठिन था। पीछे लौटने को स्थान न था। स्वामी जी भीतर ही बढ़ते गये और रीछ खिड़की में होकर कूद गया। एक बार प्रातःकाल कुटी के निकट बघर्रा नदी में पानी पीने आगया। परन्तु अब जंगल कट जाने से भय कम होगया है। स्वामी जी को पैदल पहाड़ों पर चलने का अभ्यास है १७ या १८ मील के लिये टट्टू आदि करने की आवश्यकता नहीं होती। गुरुकुल में भी वृन्दावन से मथुरा पैदल चले जाया करते थे।

स्वामी जी की प्रबन्ध सम्बन्धी शक्ति भी विचित्र है। सन् १९२५ की फर्वरी में शिवरात्रि के दिन ऋषि दयानन्द की शताब्दी मनाई जाने वाली थी। तीन वर्ष पूर्व से समस्त भारतीय समाजों के प्रतिनिधियों का विचार हो रहा था। अन्त में दिल्ली की बैठक में निश्चय हुआ कि मथुरा में शताब्दी मनाई जाय। कार्य्यकारिणी सभा के प्रधान स्वामी श्रद्धानन्द जी थे। परन्तु कार्य्य कर्त्ता

प्रधान (acting president) महात्मा नारायण स्वामी बनाये गये। दूर रहने के कारण स्वामी श्रद्धानन्द जी अधिक सहायता न दे सके और कार्य्य का समस्त भार नारायण स्वामी जी के ऊपर आपड़ा। प्रबन्ध कई मास पूर्व से आरंभ हुआ। एक लाख नरनारियों के रहने और भिन्न २ समितियों के मण्डपों तथा बाजार आदि का प्रबन्ध करना था। स्वामी जी छोटी से छोटी बात पर स्वयं ध्यान देते थे। पत्र-व्यवहार स्वयं करते। और जब कार्य्य बढ़ गया तो कई महीनों तक निरन्तर बैठा रहना पड़ता था। प्रातःकाल एक गिलास दूध पीते थे और दिन भर कुछ नहीं खाते थे। उत्सव ऐसे समारोह से मनाया गया कि लोग दांत तले उंगली दाब गये। एक लाख के स्थान में तीन लाख लोग इकट्ठे हुये। परन्तु भेड़ चाल नाम को भी नहीं थी। प्रत्येक नरनारी समझता था कि हम एक सभ्य समाज के सभासद हैं। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा प्रबन्ध सब यथोचित था। स्वामी श्रद्धानन्द जी को स्वयं इतनी सफलता की आशा न थी।

परन्तु शताब्दी के अधिक कार्य्य ने स्वामी जी को रोगी कर दिया। उनको अपेण्डीटाईसिस (Appenditicis) हो गई जिसका लखनऊ में आठ नौ मास पश्चात् आपरेशन कराना पड़ा। समस्त आर्य्य संसार को चिन्ता होगई। अन्त में ईश्वर ने चंगा कर दिया।

स्वामी जी को प्रचार का निरन्तर कार्य्य रहता है। समस्त उत्तरी भारत में तो वह दौड़ते ही रहते हैं परन्तु दक्षिण में भी कभी कभी जाना पड़ता है। स्वामी श्रद्धानन्द जी की मृत्यु के पश्चात् उनको दिल्ली में रहने की अधिक आवश्यकता पड़ती है। सार्वदेशिक सभा का समस्त भार उनके कन्धों पर है। देश में आर्य्य समाज की कोई मुख्य संस्था न होगी जहां उनका हाथ न हो। फिर भी वह अपने सब काम इतने नियम-पूर्वक कर रहे हैं कि लोग देखकर चकित होजाते हैं।

शंका समाधान

[प्रेषक—श्री गंगाचन्द्र अग्रवाल, मिर्ज़ापुर]

शंका न० (३)

(३)—(अ)—क्या गीता जिस पर इतनी टीकायें हैं जितनी सम्भवतः दूसरी किसी पुस्तक पर नहीं होंगी सर्वमान्य ग्रन्थ नहीं है।

(ब)—संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्त पिण्डोदक क्रिया।

—गीता, अध्याय १ श्लोक ४२

गीता के उपर्युक्त श्लोक में पिण्ड दान और तर्पणादि क्रियाओं का स्पष्ट प्रतिपादन है।

श्री० राजाराम जी, प्रोफेसर, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, अपने गीता-भाष्य में इस श्लोक पर टीका करते हुये लिखते हैं "उदककर्म और पिण्डकर्म, जो मरे हुओं के लिये किया जाता है, उसी से यहाँ तात्पर्य है, जीवितों से नहीं है। पर यह आर्यसमाज का मन्तव्य नहीं। आर्यसमाज इसको वेद-विहित नहीं मानता।"

सर्वोपनिषदो गावोदोग्धा गोपाल नन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इस प्रकार उपनिषदों का सार कहलाने वाली गीता के इस श्लोक का उल्लेख किस उपनिषद् में और किस रूप में है? और यह अर्थ का अनर्थ कैसे हो गया?"

समाधान (३)

(अ) मेरे विचार से गीता सर्व मान्य ग्रन्थ नहीं है। किसी पुस्तक के ऊपर बहुत सी टीकायें होना यह तो प्रकट करता है कि यह पुस्तक अधिकतर मनुष्यों को प्रिय है, परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उसमें कोई बात भी सिद्धान्त के विरुद्ध अथवा अमाननीय न हो।

(ब) मैं पं० राजाराम जी के कथन से सहमत हूँ। कुछ आर्य्य सामाजिक विद्वान् उदककर्म से 'जल' और पिण्ड कर्म से 'भोजन' का अर्थ लेते हैं। वह कहते हैं कि जब कोई जीवित पितरों को भोजन और जल न देगा अर्थात् जब माता पिता की सेवा करने वाले न रहेंगे तो श्लोक में बताई हुई खराबियाँ हो जायंगी। इस में तो सन्देह नहीं कि 'पिण्ड' शब्द भोजन के लिये प्रयुक्त हुआ है (जैसे भर्तृहरि शतकों में) परन्तु फिर भी मुझे तो यही प्रतीत होता है कि गीता में कई स्थलों पर वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध बातें हैं।

'सर्वोपनिषदो गावो' इति श्लोक किसी प्रमाणिक ग्रन्थ का तो है नहीं। गीता की प्रशंसा में लिख दिया है।

शंका नं० (४)

(४) श्येनो नृचक्षा दिव्या सुपर्णः
सहस्र पाञ्छतयोनिर्व योधाः ।
सनो निपञ्छाद वसु यत् पराभृत
मस्माकमस्तु वितृषुस्व धावत् ॥

अथर्ववेद ७-४१-२

उपर्युक्त वेद-मन्त्र में परमात्मा के विशेषणों में एक विशेषण "सुपर्ण" भी आया है, जिसका अर्थ है सुख पूर्वक उत्तम रीति से सब का पालक।

इस वेद-मन्त्र पर निम्न लिखित दो शङ्कायें हैं:—

(अ) यह वैदिक सिद्धान्त है कि जैसा कर्म हम पूर्व जन्म में कर आये हैं, वैसा फल इस जन्म में भोगते हैं। इसको कर्मफल कहते हैं। शारीरिक, आर्थिक, एवं मानसिक कष्ट पूर्व जन्म कृत कर्मों के परिणाम हैं।

यदि प्रत्येक अवस्था में कर्म-फल का बिना विचार किये परमात्मा सुख पूर्वक उत्तम रीति से सब का पालन करने लग जाय, तो कर्म-फल झूठा ठहरता है।

इस लिए या तो 'कर्म-फल' का सिद्धान्त झूठा है, या वेद-वर्णित परमात्मा का यह विशेषण परमात्मा के लिए उपयुक्त नहीं है।

(ब) इस वेद-वर्णित 'सुपर्णः' परमात्मा के विरुद्ध दुनियाँ में बहुसंख्यक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बोल्शेविज़्म' कम्युनिज़्म' सोशलिज़्म, आदि आदि विविध आधुनिक आन्दोलन क्या हैं? ये इस बात के स्पष्ट द्योतक कि 'सुपर्णः' परमात्मा सुख पूर्वक उत्तम रीति से पालन नहीं करता, अन्यथा ग़रीबों की क्षुधा—ज्वाला से उत्पन्न इन आन्दोलनों की हस्ती ही शायद दुनियां में न होती। अतएव "सुपर्णः" विशेषण परमात्मा के लिए क्या नितान्त अनुपयुक्त नहीं है?

समाधान नं० (४)

(अ) कर्म-फलवाद ईश्वर के "सुख-पूर्वक उत्तम रीति से पालक" का विरोधी नहीं। यदि ईश्वर उत्तम रीति से पालन न करता और जीवों को कर्म के अनुसार फल न देता तो पुण्य और पाप की कोई व्यवस्था भी न रहती। लोग पाप करते और सुख पा जाया करते। नतीजा यह होता कि पाप करने से उनका मन विकारी हो जाता और जिसको आप सुख कहते हैं वह 'भोग विलास' का रूप धारण कर लेता। व्यवस्था यह है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। इससे जीव को जो दुख भी होता है वह उसीके सुख के लिये। क्योंकि दुख उसके आत्मा से पाप के संस्कारों को दूर करने के लिये है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो संसार में जो विविध प्रकार के कष्ट और यातनायें देखी जाती हैं वे सब जीवों की उन्नति में साधक होती हैं। और जब जीव उन्नत होंगे तो आवश्य ही अधिक सुख लाभ कर सकेंगे। एक

विषयी मनुष्य केवल विषय-सम्बन्धी स्थूल और निकृष्ट सुखका ही अनुभव कर सकता है। परन्तु यदि वह विषयी-पना छोड़दे तो उसका आत्मा इतना निर्मल हो जायगा कि वह उच्चकोटि के सुख का भी लाभ करसकेगा। यदि कोई अध्यापक अपने विद्यार्थियों को उनके कर्मों के अनुसार दण्ड देता है तो क्या आप यह न कहेंगे कि यह "सुखपूर्वक" और "उत्तम रीति से" पालन करता है? और यदि वह दण्ड देना बन्द करदे तो क्या किसी मात्रा में भी विद्यार्थियों के "सुख" और प्रबन्ध की "उत्तम रीति" में आधिक्य हो सकेगा?

(ब) जिन आन्दोलनों का आपने कथन किया हैं वह और अन्य सब ऐसे आन्दोलन प्रकट करते है कि मनुष्य मनुष्य के अत्याचारों का किस प्रकार विरोध करता है। आक्षेप करने वाले यह समझते हैं कि ईश्वर को सुप्रबन्धक उस समय कहते जब कोई किसी प्रकार का पाप न करता होता या मनुष्य को किसी पाप के निवारण के लिये प्रयत्न न करना पड़ता। अर्थात् या तो कोई पाप करने का इरादा भी न करता। या इरादा करते ही परमात्मा उसे ऐसा दण्ड देदेता कि वह पाप करने से तुरन्त ही रुकजाता। इससे शारीरिक पाप तो होते ही न। वाचिक और मानसिक पाप भी न होते। वाचिक और मानसिक पाप भी न होते। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि यह सब कुछ होता तो क्या होता? कुछ न होता। जीव सब प्रकार की स्वतंत्रता से वंचित हो जाते क्योंकि स्वतंत्रता का अर्थ ही यह है कि आप किसी काम को करने न करने और उलटा करने में समर्थ हों। यदि स्वतंत्रता छिन गई तो उन्नति क्या और किसकी। ऐसा प्रबन्ध तो सुप्रबन्ध नहीं कहा जासकता। फिर तो संसार कर्म क्षेत्र न होकर जेलखाना मात्र रहजाता?

अपने और दूसरों के पापों को छोड़ने छुड़ाने की प्रवृत्ति ही मनुष्य की उन्नति में साधक होती है। जहाँ ईश्वर ने सृष्टि में ऐसे नियम बनाये हैं जिनसे प्राणियों की उन्नति होती रहे वहाँ ईश्वर ने यह अवसर मनुष्य को दिया है कि वह अपनी और दूसरों की उन्नति में प्रयत्न-शील हो। इसलिये मनुष्य का स्वय प्रयत्नशील होना ईश्वर के प्रबन्ध में बाधक नहीं होता।

वैदिक राहु

[श्री पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, काव्य मध्यम, एम० एस० सी (गणित) बी० एस० सी० ऑनर्स (भौतिक) मेम्बर आव दि इंस्टीच्यूट आव ऐक्टुअरीज़ (लण्डन)]

इस लम्बी चौड़ी विवेचना से पाठकों को यह भली भाँति मालूम हो गया होगा कि 'राहु' और 'केतु' का कोई 'चेतन देव दैत्यादि' होना तो दूर रहा वे, वास्तविक 'भौतिकग्रह' भी नहीं हैं बल्कि गणितीय बिन्दुमात्र (Mathematical Points) हैं।

शायद कुछ लोग यह कहें कि इन बिन्दुओं को ज्योतिर्गणित विशारदों ने ख़ाहमख़ाह ग्रह कह कर दुनिया को भ्रम में क्यों डाल दिया। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न कर्त्ताओं को स्वयं मिल जावेगा यदि वे किन्हीं किन्हीं पञ्चाङ्गों में दिये हुये मिश्रमानों पर नज़र अन्दाज करके यह देखें कि सूर्य्य के अतिरिक्त एक 'मध्यमसूर्य्य' ग्रह भी है। परन्तु इससे यह नतीजा निकालना कि 'सूर्य्य' और 'मध्यमसूर्य्य' ये दो ग्रह हमारे सौर जगत् में वर्त्तमान हैं बड़ी भूल होगी। इसी प्रकार 'मन्दसूर्य्य, शीघ्रसूर्य्य' इत्यादि ग्रह भी होते हैं।

बात यह है कि गणितशास्त्र में किसी घटना को किन्हीं विशेषशब्दों में ही प्रकट करने से सुविधा होती है और दूसरे शब्दों में कहने से सुगमता और लाघव दूर भाग जाते हैं। यह बात वे लोग भी अच्छी तरह समझ सकते हैं जो केवल गणित शास्त्र को ही जानते हैं और ज्योतिर्गणित को नहीं। विस्तार भय से हम उदाहरण नहीं देते।

साधारण बोलचाल में भी रेलगाड़ी पर बैठे बैठे हमारे मुख से यही निकलता है 'स्टेशन आगया'; यद्यपि कहने वाले का यह अभिप्राय नहीं होता कि स्टेशन का कोई अधिष्ठातृदेव भी है॥

अब हम पण्डित जी के किये हुये वेद मन्त्र व्याख्यान को उद्धृत करते हैं। भूमिका का आरम्भ यह है:—

इहनानाविध चमत्कार चारुणि संसार चक्रे गणित विद्या समुन्मेषः कदा-बभूवेति परमार्थतो निर्णेतुं न शक्यते। तथापि ऋकसंहितादौ तत्तत्प्रस्तावे विविध ज्ञानोपजीव्यानां व्यवहाराणामुपलम्भा-च्चिरन्तनतम इति सिद्धान्तयितुं पार्य्यते"॥

अर्थात् इस बात का पूर्ण रूप से निर्णय नहीं हो सकता कि इस नानाविध चमत्कारों से सुन्दर संसार चक्र में गणित विद्या का समुन्मेष कब हुआ। तो भी ऋक्संहिता आदि में उन उन प्रस्तावों में विविध ज्ञानों के उपजीव्य

व्यवहारों के उपलम्भ से यह सिद्धान्त निकल आता है कि बहुत पुरानी है"॥

इसके पश्चात् पण्डित जी वेद मन्त्र देकर उसका व्याख्यान करते हैं:—

"ऋक्संहितायां चतुर्थाष्टिके द्वितीयाध्यायास्य द्वादशेवर्गे स्वर्भानुच्छायया सूर्य्य मण्डल वेधोवर्णितस्तत्र यमृक्—

'यं वै सूर्य्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः। अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यऽन्ये अशक्नुवन ॥

अस्यामयमर्थः—(आसुरः) असुर कुलोत्पन्नः (स्वर्भानुः) सिंहिकासूनुः (तमसा) अतिमलीमसयानिजच्छायया (यं सूर्यम् अविध्यत) विद्धमकरोत (वै) निश्चये। स्वर्भानुर्हि ब्रह्मवितीर्ण-वरमहिम्ना चन्द्र मण्डलं प्रविश्यभानुमन्तं स्थगयतीति साम्प्रदायिकाः (अत्रयः) अत्रिकुलसमुत्पन्ना ऋषयः (तं) तथाभूतं सूर्य्यं. चन्द्रमण्डलप्रविष्टे नराहुणा आच्छाद्यमान मितिभावः (अन्वविन्दन) लब्धवन्तः, गणितेन सूर्य्यग्रहण विषयक-मवबोधं प्राप्तवन्त इत्यर्थः। नन्वितरजान-साधारण्येनात्रयोऽपिदृष्टवन्तःकिमित्यमी नामग्राहिक या प्रशस्यन्त इत्याशङ्कापरि-हारायाह। (नहि अन्ये अशक्नुवन) अन्येजना याथातथ्येनावगन्तु नाशक्नुवन् सूर्य्योपरागविषयकज्ञाने समर्था नाभूवन।

एतेन वेदकालेऽङ्गोपाङ्गविजृम्भिता जजागारेति निर्विदवामव सीयते"॥

इसका अर्थ यह है:—ऋक्संहिता में चतुर्थाष्टक में द्वितीयाध्याय के बारहवें वर्ग में स्वर्भानु की छाया से सूर्य्य मण्डल का बेधवर्णित है तो वहां की यह ऋक् 'यं वै सूर्य्य'......अशक्नुवन्।

इसका यह अर्थः (आसुरः) असुर कुलोत्पन्न (स्वर्भानुः) सिंहिका के लड़के ने (तमसा) बड़ी मैली अपनी छाया से (यं सूर्य्यम् अविध्यत्) जिस सूर्य्य को विद्ध किया (वै) निश्चय करके।

स्वर्भानु ही ब्रह्मा के दिये हुये बर की महिमा से चन्द्र मण्डल में प्रवेश करके सूर्य्य को स्थगित कर देता है ऐसा साम्प्रा-दायिकों का मत है।

(अत्रयः) अत्रिकुल में पैदा हुये ऋषियों ने (तम्) उस प्रकार के सूर्य्य को, अर्थात् चन्द्र मण्डल में घुसे हुये राहु द्वारा ढके हुये को (अन्वविन्दन) पाया, यानी गणित से सूर्य्य ग्रहण विषयक इसको प्राप्त किया'।

'तो फिर दूसरे लोगों की साधारणता से अत्रियों ने भी देखा इनका नाम ले कर प्रशंसा क्यों की गई' ऐसी आशङ्का के परिहार में कहते हैं।

(नहि अन्ये अशक्नुवन्) दूसरे लोग ठीक ठीक न जान सके, सूर्य्य के उपरागविषयकज्ञान में समर्थ न हुये।

"इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वेद काल में अङ्गों और उपाङ्गों सहित गणित विद्या जाग उठी थी।"

पण्डित जी का निष्कष कि गणित विद्या

अति प्राचीन काल में साङ्गोपाङ्ग विजृम्भित थी निस्सन्देह ठीक है परन्तु 'राहु' के अर्थ में 'सिंहिकासूनु' विशेष करके गद्य में प्रयुक्त करना तो आधुनिक पौराणिकता की झलक साफ़ साफ़ दिखला रहा है जो इस मन्त्र के अर्थ में प्रामादिक और अनावश्यक है। साथ ही साथ राहु का चन्द्र मण्डल में घुस कर ब्रह्मा के वर से सूर्य्य को ढक लेना और वह भी साम्प्रदायिकों के नाम से लिखना तो उस समय शोभा देता जब पण्डित जी ज्योतिर्गणित विद्या से पूर्ण अनभिज्ञ होते ॥

परन्तु जिस कारण विद्वद्वर्य्य पण्डित जी ने इस वेद मन्त्र के अर्थ में नवीन पौराणिकता घुसेड़ी है उसका कारण हम समझ गये।

बात यह है गणितज्ञ शिरोमणि श्रीभास्कराचार्य्य जी ने सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय के ग्रहणवासना में ९ और १० ये दो श्लोक राहु के बारे में कुछ गड़बड़ से लिखे हैं और उन पर वासना भाष्य भी कुछ गड़बड़ सा ही दे दिया है। परन्तु इस ग्रहण वासना के श्लोकों को भाष्य सहित उद्धृत करने के पहिले यह बतला देना आवश्यक है कि गोलस्वरूपप्रश्नाध्याय' के जिन प्रश्नों के उत्तर में ग्रहण वासना लिखी गई है वे प्रश्न ये हैं:—

"इदानीं चन्द्रार्क ग्रहणयोर्दिक्काल-भेदाद्युपपत्तिप्रश्नान् सार्धश्लोकेनाह

तिष्ठयन्ते चेद् ग्रह उडुपतेः किन्न भानोस्तदानीम्,

इन्दोः प्राच्यां भवतितरणेः प्रग्रहः किं प्रतीच्याम् ॥ ८ ॥

लम्बनं बत किं का च नतिर्मतिमतां वर।

तत्संकृतिस्तिथौ बाणे किं ते सिद्धे कुतः कुतः ॥ ९ ॥

अत्रकिल प्रष्टुरयमभिप्रायः। चन्द्र ग्रहणे भूभाग्रहणकर्त्री। पौर्णमास्यन्तेभूभेन्द्वोस्तुल्यत्वाद युतिर्भवितुमर्हति। एवं सूर्य्यग्रहे चन्द्रश्छादकः। दर्शान्ते तयोस्तुल्यत्वाद् योगेन भवित व्यमिति। बत अहोगणक लम्बनं नाम किंनतिश्चका। ततसंस्कृतिस्तिथौ बाणे चकिम्। लम्बनेन तिथिः नत्या किं बाणश्च। तथान्यः प्रश्नः। ते सिद्धे कुतः कुतः इत्यि ते लम्बनावनती कुतोहेतोः कुतः पृथिव्यः सचिते। भूव्यासार्धेन सधिते इत्यर्थः। तथेन्दोः प्राच्यां दिशिस्पर्शः किं। वेः प्रतीच्यामित्यादि सर्वबंद्" ॥

अब चन्द्र और सूर्य्य ग्रहणों के दिक्काल भेद इत्यादि के उपपत्ति प्रश्नों को डेढ़ श्लोक से कहते हैं।

पौर्णमासी के अन्त में यदि चन्द्र ग्रहण होता है तो तभी सूर्य्य ग्रहण क्यों नहीं चन्द्र का पूर्व में सूर्य का पश्चिम में स्पर्श क्यों होता है ॥८॥ हे मतिमानों में श्रेष्ठ लम्बन क्या है और नति क्या है? तिथि और बाण में उसकी संस्कृति क्या है ॥ ९ ॥

यहां पूछने वाले का यह अभिप्राय है। चन्द्रग्रहण में पृथिवी की छाया ग्रहण पैदा करने वाली है। पौर्णमासी के अन्त में भूमि और चन्द्रमा के तुल्य होने से योग होना चाहिये। इसी प्रकार सूर्य्य ग्रहण में चन्द्र छादक है। अमावस्या के अन्त में उन दोनों के तुल्य होने से योग होना चाहिये है गणक लम्बन क्या है और नति क्या है। उनकी संस्कृति-तिथि और बाण में क्यों की जाती है। लम्बन से तिथि (का संस्कार होता है) नति से किसका ? बाण का। तथा अन्य प्रश्न वे दोनों किससे सिद्ध होते हैं ? पृथ्वी से अर्थात पृथ्वी की त्रिज्या (radius) से सिद्ध होते हैं। तथा चन्द्र का पूर्व में स्पर्श और सूर्य्य का पश्चिम में क्यों होता है यह सब बतला॥

इन प्रश्नों के भाष्य में जो ऊपर दिया हुआ है यह स्पष्ट है कि ग्रन्थ बनाने वाले और उस पर भाष्य करने वाले स्वयं भास्कराचार्य्य ने ग्रहण में राहु (सिंहिका के बेटे) को छादक नहीं माना और न उसका उल्लेख ही किया।

अब इन प्रश्नों का उत्तर सुनियेः—

"अथ ग्रहण वासना। चन्द्रार्क ग्रहणयोः स्पर्शो मोक्षे च दिग्व्यत्ययस्योपपत्तिमाह—

पश्चाद्भागाज्जलदवदधः
संस्थितोऽभ्येत्य चन्द्रो
भानोर्बिम्बं स्फुरदसितया
छादयत्यात्यामूर्त्या।
पश्चात्स्पर्शो हरिदिशिततो
मुक्तिरस्यात एव
क्वापिच्छन्नः क्वचिदपिहितो
नैष कक्षान्तरत्वात॥ १॥

अर्कादधश्चन्द्रकक्षा। यथामेघोऽधःस्थः पश्चाद्भागादागत्य रविं छादयति। एवं चन्द्रो विशीघ्रत्वात् पश्चात् भागादागत्य रविं छादयति। ततः पश्चात् स्पर्शः। निः सरति चन्द्रे पूर्वतो मोक्षोऽखेः। अत एव कक्षा भेदात् क्वचिदर्कश्छन्नो दृश्यते क्वचिदेषनच्छन्नः। यथाधःस्थे मेघे कैश्चिदूरविर्न कैश्चिद् दृश्यते प्रदेशान्तरस्थैः।"

अर्थात् सूर्य्य के नीचे चन्द्रमा का मार्ग है जिस प्रकार मेघ नीचे स्थित होता हुआ पीछे के भाग से आकर सूर्य को ढक लेता है इसी प्रकार चन्द्र भी पीछे से आकर अपनी आकाश रोधक मूर्ति सूर्य्य के विम्ब को ढक लेता है। तत्पश्चात स्पर्श होता है। इसी लिये निकल जाने पर सूर्य्य का मोक्ष पूर्व दिशा में होता है। इसीलिये यह सूर्य्य कहीं पर आच्छादित दीखता है और कहीं नहीं॥ १॥

"इदानीं नतिलम्बनयोः कारणमाह—
पर्वान्तेऽर्कं नतमुडुपतिच्छन्नमेवअपश्येत्।
भूमध्यस्थो ननु वसुमती पृष्ठनिष्ठस्तदानीम।
तद्दृक सूत्राद्धि मरु चिरधोलम्बितोऽ
र्कंगहेऽतः।

कक्षाभेदादिह खलु नतिर्लम्बनं चोप पन्नम् ॥२॥
समकलकाले भूभा लगति मृगाङ्के यतस्त यामुानम् ।
सर्वे पश्यन्ति समं समकक्षत्वान्नलम्बना वनती ॥३॥
पूर्वाभिमुखो गच्छन् कुच्छायान्तर्यतः शशीविशति ।
तेन प्राक प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निःसरतः ॥४॥
भानोर्बिम्ब पृथुत्वाद पृथु पृथिव्याः प्रभा हिसून्यग्रा ।
दीर्घतया शशि कक्षामतीत्य दूरं बहिर्याता ॥५॥
अनुपाता एतद्दैर्घ्य शशि कक्षायां च तद् बिम्बम् ।
भूभेन्दोरन्योदिशि व्यस्तः क्षेपः शशि ग्रहे तस्मान ॥६॥

दर्शान्त काले रविं पूर्वतः पश्चिमतो वा नतं चन्द्रेण छन्नमेव प्रपश्यति भूमध्यस्थो द्रष्टा। यतो दर्शान्ते सनौ भवतः। योभूपृष्ठस्थो स तदार्क छन्नं न पश्यति। यतस्तद दृक सूत्रा च्चन्द्रोऽधोलम्बि तो भवति। अतः कक्षा भेदाल्लम्बनं नतिश्चोपपद्यते। चन्द्रगहे तुलम्बन नत्योर भावः। यतः समकलकाले भूभा चन्द्रे लगति। तया छन्नं सर्वे विदेशान्तरस्था अपिनतमपिस चन्द्रं समं पश्यन्ति। यतस्तत्रच्छाद्यछादकयोरेकैव कक्षा जाता। तथा भूभातावत पूर्वाभिमुख मर्कगत्या गच्छति। चन्द्रश्च स्वगत्या। सशीघ्रत्वात्पूर्वा भिमुखो गच्छन् भूमां प्रविशति तेन तस्य प्राक स्पर्शः। भूमाया निःसरतः पश्चान्मुक्तिः। भानोर्बिम्बं विपुलं पृथ्वी लघुः। अतो भूभा सू्यग्रा भवति। दीर्घत्वे चन्द्रकक्षामतीत्य दूरं-गता। तद्दैर्ध्यमनुपातात्साध्यते। चन्द्र कक्षा प्रदेशे भूभा चन्द्रबिम्बं चेतिसर्व ग्रहणे प्रतिपादितमेव ॥"

अर्थात् अमावस्या और प्रतिपदा की सन्धि के अन्त में भूगर्भ निवासी नत सूर्य्य आच्छन्न ही देखेगा। परन्तु उसी समय भूपृष्ठ निवासी उसको आच्छन्न नहीं देखते, क्योंकि उनके दृक सूत्र से चन्द्र-लम्बित रहता है। इस प्रकार कक्षाओं के भेद से लम्बन और नति उपपन्न होते हैं ॥२॥

जिस समय सूर्य्य और चन्द्र की स्फुट कला समान होती है, उस समय भूमाचन्द्र बिम्ब में प्रवेश करती है। उससे चन्द्र को मलिन सब लोग समान ही देखते हैं क्योंकि छाद्य और छादक की एक ही कक्षा हो जाने के कारण लम्बन और नति नहीं होते ॥३॥

चन्द्र पूर्व की ओर गमन करता हुआ भू छाया में प्रवेश करता है इसी लिए चन्द्रग्रहण में प्रथम पूर्व दिशा में ग्रहण का आरम्भ और पश्चिम दिशा में इस चन्द्र के निकलने से मोक्ष होता है ॥ ४ ॥

सूर्य्यबिम्ब के बड़े होने से और पृथिवी बिम्ब के लघुतर होने से भूमि की छाया सूची के समान (Conical) सूक्ष्माग्र होती है और लम्बी होने के कारण चन्द्रकक्षा (Lunar orbit) के बाहर दूर तक चली जाती है ॥ ५ ॥

इस भूभा की लम्बाई और चन्द्र कक्षा में भूभा का प्रमाण अनुपात से सिद्ध होता है इस लिये चन्द्र ग्रहण में शरदान विपरीत होता है ॥ ६ ॥

इन श्लोकों का ऊपर जो वासना भाष्य दिया हुआ है उसके 'यतस्तत्रच्छाद्य छादकयोरेकैव कक्षा जाता' इस वाक्य से स्पष्ट है कि भास्कराचार्य्य भूभा के अतिरिक्त चन्द्र का कोई और छादक नहीं मानते अभी तक बेचारे राहु के मिजाज उन्होंने नहीं पूछे ॥

इदानीं छादक निर्णयमाह ।

अब छादक निर्णय को कहते हैं अर्थात् सूर्य्य को ढकने वाला कौन है और चन्द्रमा को कौन इसका निर्णय करते हैं:—

"छादकः पृथुतरस्ततोत्र: विधो-रर्ध खण्डित तनोविषाणयो:'

कुण्ठता च महती स्थितिर्थतो-दृश्यते हरिण लक्षण ग्रहे' ॥ ७ ॥

इस लिए चन्द्र का छादक अधिकतर बड़ा है क्योंकि अर्ध खण्डित देह वाले चन्द्रमा की सींगों में मन्दता देखी जाती है और चन्द्र ग्रहण देर तक होता है ॥७॥

"अर्ध खण्डिततनोविषाणयोस्ती-क्ष्णता भवतितीक्ष्णदीधितेः ।

स्यातस्थितिर्लघुरतो लघुः पृथक, छादको दिन कृतोऽवगम्यते ॥ ८ ॥

अर्ध खण्डित देह वाले सूर्य्य की में शृङ्गों तीक्ष्णपन होता है । थोड़ी देर सूर्य्य ग्रहण रहता है । इस लिए सूर्य्य का कोई दूसरा लघुतर छादक है ॥ ८ ॥

' दिग्देशकालावरणादिभेदा-न्नच्छाद को राहुरिति ब्रुवन्ति ।"

यन्मानिनः केवल गोल विद्यास्त त्संहिता वेदपुराण बाह्यम् ॥ ९ ॥

दिशा प्रदेश काल और आवरण के भेद से केवल गोल विद्या के अभिमानी लोग जो यह कहते हैं कि राहु छादक नहीं तो वह संहिता, वेद, और पुराण के बाहर है ॥ ९ ॥

"राहुः कुभा मण्डलगः शशाङ्कं-शशाङ्कगश्छादयतीनबिम्बम् ।

तमोमयः शम्भुवरप्रदानात्, सर्वागमानामविरुद्धमेतत्" ॥ १० ॥

सब आगमों के अनुकूल यह है कि राहु शम्भु के वर प्रदान से भूभा में प्रवेश करके सूर्यचन्द्र का और चन्द्र-मण्डल में प्रवेश करके सूर्य्य का आच्छादन करता है ॥१०॥

अधिक स्पष्टी करण के लिये हम भास्करीय वासना भाष्य ही को उद्धृत किये देते हैं:—

"अर्कच्छादककाबन्न्च्छादकः पृथु-

तरो वगम्यते। कुतः। यतोऽर्ध खण्डित स्येन्दोर्विषाणयोः कुण्ठता दृश्यते स्थितिश्च महती। अर्कस्य पुनरर्धखण्डितस्य तीक्ष्णता विषाणयोः स्थितिश्च लघ्वी। एतत्कारणद्वया न्यथानुपपत्त्यार्कस्य न्छादकोऽन्यः। स च लघुः एवं खीन्द्वोर्न न्छाद को राहुरिति वदन्ति। कुतः। दिग्देश कालावरणादि भेदात। एकस्य प्राक स्पर्शः। इतरस्य पश्चात्। खेः कापि ग्रहण मस्ति कापि नास्ति। कापि दर्शना मतः कापि पृष्ठतः। अतो राहु कृतं न गहणम्। नहि बहवो राहवः। एवं के वदन्ति। केवल गोला विद्यास्तदभिमानि नश्च इदं संहिता वेद पुराण बाह्यम्। यतः संहितासु राहुरष्टमो ग्रहः। स्वर्भानुर्ह वा आसुरः सूर्य्यं तमसा विन्याधेति माध्यन्दिनी श्रुतिः।

सर्व गङ्गा समं तोयं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः।
सर्व भूमि समं दानं राहुग्रस्ते दिवाकरे॥

इत्यादि पुराण वाक्यानि। अतो विरुद्धमुच्यते। राहुरवियतगति स्तमो भयो ब्रह्म वर प्रदा बाद् भूभा प्रविश्य चन्द्रं छादयति चन्द्रं प्रविश्यं रविं छादयति इति सर्वागमानामविरुद्धम्" ॥

अर्थात् सूर्य्य के छादक से चन्द्र का छादक बड़ा मालूम होता है। क्यों। क्योंकि "अर्ध खण्डित चन्द्र के शृङ्गों की मन्दता दीख पड़ती है और देरतक स्थिति भी। और अर्धखण्डित सूर्य्य के शृङ्गों में तीखापन और थोड़ी देर तक स्थिति देखी जाती है। इन दोनों कारणों से और अन्यथा अनुपत्ति से (अर्थात् कोई दूसरा सबूत न होने से) सूर्य्य का छादक दूसरा है। और वह छोटा है। इस लिये सूर्य्य का छादक दूसरा है। और वह छोटा है। इस लिये सूर्य्य और चन्द्र का छादक राहु नहीं है ऐसा कहते हैं। क्यों? दिशा देश, काल और आवरण इत्यादि के भेद से एक का पूर्व स्पर्श होता है। दूसरे का बाद में सूर्य का कहीं ग्रहण होता। है कहीं नहीं। कहीं दर्शन के पहिले कहीं बाद में। इस लिये राहु का किया हुआ ग्रहण नहीं है। बहुत से राहु नहीं हैं। ऐसा कौन कहते हैं केवल गोल विद्यावाले और उसके अभिमानी लोग। यह संहिता वेद और पुराण के बाहर है। क्योंकि संहिताओं में राहु आठवां ग्रह है। 'आसुरस्वर्भानु ही निश्चयकर के सूर्य को अन्धकार से वेध करता है' यह माध्यन्दिनी श्रुति है।

शतपथ ब्राह्मण [सभाष्य]

काण्ड १—अध्याय २—ब्राह्मण ४

(१)

अनुवाद

६—वायुरसि तिग्मतेजा इति। एतद्वै तेजिष्ठं तेजोयदयं योऽयं पवतऽएषहीमांल्लोकां स्तिर्य्यङ्ङनुपवते संशयत्येवैनमेतद्द्विषतो बध इति यदि नाभिचरयेयुऽअभिचरेदमुष्य बध इति ब्रूयात्तेन संशितेन नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीं नेदनेनवज्रेण संशितेनात्मानं वा पृथिवीं वा हिनसानीति तस्मान्नात्मान मुपस्पृशति न पृथिवीम् ॥

७—अब वह कहता है।

वायुरसि तिग्मतेजा।

(यजु० १। २४)

"तू तेज धार वाला वायु है"

वस्तुतः यह तेज धार वाला है यह जो बहता है (अर्थात् वायु) क्योंकि यह इन लोकों में आरपार होकर बहता है। मानो इस प्रकार यह धार को तेज करता है।

जब वह कहे—

"द्विषतो बधः" (यजु० १। २४)

"शत्रुओं का बध करने वाला।"

तो उसकी चाहे इच्छा हो या न इच्छा हो ऐसा कहना चाहिये कि "अमुक का बध करने वाला।"

जब ऐसा हो जाय तो इससे न स्वयं अपने को स्पर्श करे और न पृथ्वी को। कहीं ऐसा न हो कि अपने को या पृथ्वी को हानि पहुंच जाय। इसलिये वह न स्वयं इसका स्पर्श करता है न इससे पृथ्वी को छुआता है।

८—देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ते ह स्म यद्देवा असुरान् जयन्ति ततो ह स्मैवैनान् पुनरुपोत्तिष्ठन्ति

८—देव और असुर दोनों प्रजापति की संतान अपनी बड़ाई के लिये लड़े। जब देवों ने असुरों को हरा दिया तो फिर भी असुर देवों को सताने लगे।

६—ते ह देवा ऊचुः। जयामो वाऽअसुरांस्ततस्त्वेव नः पुनरुपोत्तिष्ठन्ति कथं न्वेनाननपजय्यं जयेमेति ॥

९—तब देवों ने कहा—हम असुरों को हरा देते हैं फिर भी असुर हमको तंग करते हैं। हम उनको किस प्रकार हरावें कि फिर उनको पराजय करने की आवश्यकता न पड़े।

१०—स हाग्निरुवाच। उदञ्चो वै नः पलाय्य मुच्यन्तऽइत्युदञ्चो ह स्मैवैषां पलाय्य मुच्यन्ते।

१०—तब अग्नि ने कहा:—उत्तर

की ओर भाग जाने से यह हमसे छूट जाते हैं।" वस्तुतः उत्तर की ओर भागने से ही वे उनसे छूट गये।

११—स हाग्निरुवाच। अहमुत्तरतः पर्यैष्याम्यथ यूयमित उपसꣳरोत्स्यथ तान्त्सꣳरुध्यैभिश्च लोकैरभिनि-धास्यमो यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न सꣳहास्यन्तऽइति

११—अग्नि ने कहा—मैं उत्तर की ओर जाता हूँ। तुम उनको इधर से रोको। इस प्रकार घेर कर हम उनको इन लोकों से घेर लेंगे। और इन (तीन) लोकों से ऊपर जो चौथा लोक है उसमें वह फिर न उभर सकेंगे।

१२—सोऽग्निरुत्तरतः पर्यैत्। इमऽइतर उपसमरुन्धꣳस्तान्त्सꣳरुध्यैभिश्च लोकैरभिन्यदधुर्यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न समजिहत तदेतन्निदानेन यत् स्तम्बयजुः

१२—तब अग्नि उत्तर की ओर चला गया और इन्होंने (दूसरे देवों) ने उनको इधर से रोका। और इस प्रकार घेर कर उन्होंने उन असुरों को तीन लोकों में घेर लिया और इन तीन के लोकों के आगे जो चौथा लोक है उस से वह फिर उभर न सके। कुश को फेंक देना ही मानो इन असुरों का निकालना है।

१३—स योऽसावग्निरुत्तरतः पर्यैति अग्निरेवैष निदानेन तामध्वर्युरेवेत उपसꣳरुणद्धि तान्त्सꣳरुध्यैभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थं ततः पुनर्न सञ्जिहते नास्मिन्नप्येतर्ह्यसुरा न सञ्जिहते येन ह्येवैनान्देवा अत्राबाधन्त तेनैवैनानप्येतर्हि ब्राह्मणा यज्ञेऽत्रबाधन्ते

१३—अब वह (अग्नीध्र उत्तर की ओर जाता है। वस्तुतः अग्नि ही है। अध्वर्यु उनको इधर से रोकता है। और उनको इस प्रकार रोक कर वह इन लोकों द्वारा दबा लेता है। और इन लोकों के आगे जो चौथा लोक है उसमें वह फिर नहीं उभरते। यहां भी यह असुर नहीं उभरते। क्योंकि जिस प्रकार देवों ने उनको परास्त किया था उसी प्रकार ब्राह्मण भी यज्ञ में उनको परास्त कर देते हैं।

१४—य उऽएव यजमानायारातीयति। यश्चैनं द्वेष्टि तमेवैतदेभिश्च लोकैरभिनिदधाति यदु चेमाँल्लोकानति चतुर्थमस्या एव सर्वꣳ हरत्यस्याꣳ हीमे सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः किꣳ हि स ब्रूयादन्तरिक्षꣳ हरामि दिवꣳ हरामीति तस्मादस्या एव सर्वꣳ हरति

१४—अब जो यजमान से शत्रुता रखता है और उससे द्वेष करता है उसका वह इन (तीन) लोकों द्वारा तथा चौथे लोक द्वारा दमन कर देता है। इस (पृथ्वी) से सब चीजों को फेंक देता है क्योंकि पृथ्वी में ही सब लोक स्थित हैं। अगर कहे कि "मैं अन्तरिक्ष को फेंक दूं" "द्यौलोक को फेंक दूं" तो यह कह कर वह किसको फेंके? इस लिये पृथ्वी से सब (कुशों) को फेंक देता है।

१५—अथ तृणमन्तर्धाय प्रहरति। नेदनेन

वज्रेण सं छ शितेन पृथिवीं छ हिनसानीति तस्मात्तृणमन्तर्धाय प्रहरति

१५—अब तृण को बीच में रखकर (स्फ्या को) मारता है । यह सोचकर कि कहीं ऐसा न हो कि इस तेज वज्र से मैं पृथ्वी को हानि पहुंचाऊं इस लिये वह तृण को बीच में रख लेता है ।

१६—स प्रहरति । पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिं छ सिषमित्युत्तरमूलामिव वाऽ इमां तत्करोति यदादानस्तामेतदाहौषधीनां ते मूलानि मा हिं छ सिषमितिव्रजं गच्छ गोष्ठ नमित्यभिनिधास्यन्नेवै तदनपकमि कुरुते तद्धयनपकमि यद्व्रजेऽन्तस्तस्मादाह व्रजं गच्छ गोष्ठानमिति वर्षतु ते द्यौरिति यत्र वाऽअस्यै खनन्तः क्रूरीकुर्वन्त्यपघ्नन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति तस्मादाह वर्षतु ते द्यौरिति बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यामिति देवमेवैतत्सवितारमाहान्धे तमसि बधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति शतेन पाशैरित्यमुचे तदाह योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति यदि नाभिचरेद्यद्यु अभिचरेदमुमतो मा मौगिति ब्रूयात्

१६—वह (स्फ्या) फेंकते समय इस मंत्रांश को पढ़ता है :-

पृथिवि देव यजन्योषध्यास्ते मूलम हिं छ सिषं । (यजु० १।२५)

"हे यज्ञों की आधार रूप पृथ्वी, तेरी मूल में ओषधियाँ हैं । मैं उनको हानि न पहुँचाऊँ ।"

इस प्रकार कह कर मानो वह पृथ्वी को उत्तर मूला (जड़वाली) बना देता है । इस लिये (मिट्टी निकालने के समय) वह कहता है कि ओषधियों की जड़ें तेरे भीतर हैं । उनको मैं हानि न पहुँचाऊं । अब मिट्टी को निकाल कर फेंकते समय वह कहता है :—

"व्रजं गच्छ गोष्ठानम्" । (यजु० १।२५)

"गौओं के बाड़े अर्थात् व्रज को जा" ।

ऐसा कहने से उसका तात्पर्य यह है कि जो वस्तु व्रज में है वह "न फेंकी गई" के समान है । जब वह इस मन्त्रांश को पढ़ कर उसको फेंकता है तो मानो वह उसे 'न फेंकी गई' के समान बना देता है । इसी लिए कहता है कि व्रज अर्थात् गौओं के बाड़े को जा ।

वर्षतु ते द्यौः (यजु० १।२५)

"द्यौलोक तेरे ऊपर वर्षा करे"

पृथ्वी के खोदने में जहाँ कहीं वह चोट लगा देता है तो जल शान्ति रूप है । इस लिये जलों द्वारा वह शान्त कर देता है इस लिये वह जल रखता है और कहता है द्यौलोक तेरे ऊपर वर्षा करे" । अब वह कहता है:—

बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याम् (यजु० १।२५)

"हे सवितः देव इसको पृथ्वी के दूरस्थ कोने से बांध दे ऐसा कह कर वह मानो देव सविता से प्रार्थना करता है कि "इसको अन्धकार से बांधो" । पृथ्वी के

दूर के कोने से तात्पर्य है "अन्धकार से"। फिर वह कहता है:—

शतेन पाशैः (यजु० १।२५)

"सौ बेड़ियों से"। इसका तात्पर्य है कि छूट न सके। अब वह कहता है:—

योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्त-मतो मा मौक्। (युजु० १।२५)

"जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसको इससे मत छोड़।"

यहां चाहे या न चाहे। उसको नाम लेकर ऐसा कहना चाहिये कि इस अमुक व्यक्ति को न छोड़"।

१७—अथ द्वितीयं प्रहरति। अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासमित्यररुर्ह वै नामासुररक्षस-मास तं देवा अस्या अपाघ्नत तथोऽएवैनमेत-देषोऽस्या अपहते व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यांॅ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्त-मतो मा मौगिति

१७—अब वह यह मन्त्रांश पढ़ कर स्फ्या से दूसरी बार प्रहार करता है:

अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद् वध्या-सम्। (यजु० १।२६)

(अररुं) दुष्ट शत्रु को (पृथिव्यै) संसार के हित के लिये (देवयजनाद्) यज्ञ स्थान से (अप वध्यासम्) मार भगा दूं।"

'अररु' नाम का एक असुर राक्षस था। उसको देवों ने इस (संसार) से निकाल दिया। इसी प्रकार अध्वर्यु भी इसको यहाँ से निकालता है। नीचे का मन्त्र पढ़ कर:—

व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यांॅ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्त-मतो मा मौक्।

"गौओं के स्थान अर्थात् व्रज को जा। द्यौ तुझ पर वर्षा करे। हे देव सविता उसको पृथ्वी के पहले सिरे से और सैकड़ों जालों से बाँध जो हमसे द्वेष करते हैं। उसको इससे मत छोड़।"

१८—तमग्नीदभिनिदधाति। अररो दिवं मा पप्त इति यत्र वै देवा अररुमसुररक्षसमपा-घ्नत स दिवमपिपतिषत्तमग्निरभिन्यदधादररो दिवं मा पप्त इति स न दिवमपत्तथोऽएवैनमेत-दध्वर्युरेवास्माल्लोका दन्तरेति दिवोऽध्यग्नीत्त-स्मादेवं करोति।

१८—अग्नीध्र इसको नीचे का मंत्र पढ़कर दबा देता है:—

अररो दिवं मा पप्त (यजु० १। २६

"हे दुष्ट तू क्यों लोक को प्राप्त न हो"। जब देवों ने अररु राक्षस असुर को मारा तो उसने द्यौलोक को जाना चाहा। अग्नि ने उसको यह कहकर दबा दिया कि "हे दुष्ट तू द्यौलोक को प्राप्त न हो"। वह द्यौलोक को प्राप्त न हो सका इसी प्रकार अध्वर्यु इसको भी इस लोक से दूर कर देता है और अग्नीध्र द्यौलोक से। यही कारण है कि कि वह इस प्रकार करता है।

समालोचना

वैदिक त्रैतवाद

ले० स्नातक पं० सत्यव्रत जी प्रका -रतिलाल हरजीवन पटेल, सांटाक्रुज, (B.B.C.I.Ry.) आकार डबल क्राउन सोलह पेजी, पृष्ठ संख्या १०८+२४ मूल्य ।||)

पुस्तका गुजराती भाषा में है। इस पुस्तक का भी इतिहास है। श्री पं० सत्यव्रत जी ने उपाधि परीक्षा के लिये यह पुस्तक लिखी थी। यह पुस्तक इतनी उत्तम समझी गई कि आपको उपाधि से भूषित किया गया। पुस्तक की उपयोगिता इससे भली प्रकार सिद्ध हो सकती है। वैदिक त्रैतवाद क्या है? अगर यह समझना हो तो इस से उत्तम पुस्तक दूसरी न, मिलेगी। इसमें ईश्वर सिद्धि जीवन-सिद्धि, पुनर्जन्म सिद्धि, ईश्वर की भिन्नता की सिद्धि (स्वामी शंकराचार्य्य के सिद्धान्तों का खंडन, स्वामी दयानन्द के मत का पोषण) प्रकृति-सिद्धि, पर युक्ति प्रमाण संगत टिप्पणियां पढ़िये। विद्वान् लेखक ने भारतीय दार्शनिकों का विवेचन तो किया ही है साथ साथ ईसाइयों के त्रैतवाद (Christ tian trinity) तथा दार्शनिक केन्ट (Kent) के त्रैतवाद पर भी चोट की है। पुस्तक में वेद उपनिषद तथा शास्त्रों के बहुत से प्रमाण मिलेंगे। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि वैदिक त्रैतवाद पर ऐसा सुन्दर ग्रन्थ दूसरा कोई नहीं लिखा गया। आशा है कि वैदिक साहित्य प्रेमी इसको अवश्य खरीदेंगे तथा जो वैदिक त्रैतवाद को नहीं मानते उनका ध्यान इसकी ओर आकर्षित कर देंगे।



द्वितीय आर्य्य-महासम्मेलन

बरेली नगर में द्वितीय आर्य्यमहा सम्मेलन ७-८-९ फर्वरी १९३२ ई० को होगा। पाठकों को स्मरण होगा कि पहला सम्मेलन दिल्ली नगर में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान के उपरान्त हुआ था। वे दिवस आर्य्यसमाज के इतिहास में विशेष आपत्ति के थे। अनेकों बलिदान हो चुके थे तथा नगर कीर्त्तन भी अनेक स्थानों पर रोके जा चुके थे। परन्तु इन सबके ऊपर स्वामी श्रद्धानन्दजी की शहादत थी। उनका खून आर्य्यों के हृदय में जोश पैदा कर रहा था। यही कारण था कि दिल्ली नगर में प्रथम आर्य्य सम्मेलन बहुत सफलता पूर्वक होगया।

कई वर्षों बाद अब फिर सम्मेलन की धुन समाई। कुछ जोशीले लोगों ने चाहा कि सम्मेलनों का क्रम जारी रहे। बरेली के उत्साही कार्य्यकर्त्ताओं ने अपने ऊपर इस महान् कार्य्य को लिया। इस समय यह सम्मेलन होना चाहिये था? इसकी कोई आवश्यकता भी थी? इन प्रश्नों में पड़ने से क्या लाभ क्योंकि अब होही रहा है। वैसे तो इस समय आर्य्य जगत के सम्मुख कोई ऐसा गहन विषय नहीं है जिसको हल करने के लिये सम्मेलन का आयोजन आवश्यक था। बहुत से ऐसे लोग जिनमें जीवन हैं जेल की चार दीवारी में पहुंच चुके हैं? और वे सम्मेलन में भाग न ले सकेंगे। परन्तु इतना होते हुये भी सम्मेलन से बहुत आशायें लगाई जा सकती हैं। सम्मेलन के सभापति आर्य्यसमाज के शिरोमणि श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज हैं। आप के समान त्याग-मयी, शान्तिमयी तथा गंभीर दूसरी मूर्त्ति न मिलैगी। स्वामी जी में प्रेम है, धुन है, जोश है, त्याग है। और जिस ओर जनता को लेजाना चाहें ले जा सकते हैं। जनता को सोचने की आवश्यकता नहीं, आंखें बन्द करके पीछे चल सकती है।

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार सफलता मिल सकती है। यदि इस सम्मेलन में लोग आये, दो चार दिन धूम मचा कर चले गये तो उससे कोई बड़ा लाभ नहीं। इसमें तो अपनी शक्ति का ह्रास ही करना है।

इस समय जब कि आर्य्यसमाज को किसी बाह्य शक्ति का सामना नहीं करना यह आवश्यक है कि वह अपने संगठन को मजबूत बना ले। जो कुछ शिथिलता हममें आचुकी है या आरही है उसको दूर करना हमारा धर्म है। आर्य्यसमाज के प्रारम्भिक जीवन में हम दो बातें पाते हैं। प्रचार की धुन, दूसरी अपने सामाजिक भाइयों के साथ प्रेम का व्यवहार। प्रत्येक आर्य्यसमाजिक को इस बात की धुन सवार थी कि जितना वह प्रचार कर सके अवश्य करे। एक से दो, और दो से चार बनाने की इच्छा रहती थी और इसी धुन का फल है कि इतने थोड़े काल में ही आर्य्यसमाजिकों की संख्या बड़ी तेजी के साथ बढ़ती रही परन्तु अब हमारा प्रचार का कार्य्य बहुत शिथिल हो रहा है।

प्रचार के लिये अपने सिद्धान्तों की रक्षा करना आवश्यक है। सिद्धान्तों की रक्षा उत्तम साहित्य से ही हो सकती है। आर्य्यसमाज ने सब वेद-भाष्यों का खंडन तो कर दिया पर इतने समय में एक भी वेदों का भाष्य नहीं प्रस्तुत किया जिसको लोग कह सकते कि यह "हमारा भाष्य है।" होना तो यह चाहिये था कि कई भाषाओं में इस प्रकार के भाष्य छप जाते। इसके अतिरिक्त सिद्धान्तों का भी पोषण करना है। स्वामी दयानन्द तो केवल संकेत ही दे गये हैं। एक एक सिद्धान्त पर युक्ति तथा प्रमाणों सहित एक उत्तम ग्रन्थ की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न सिद्धान्तों पर विद्वानों में भिन्न भिन्न मत हैं।

अब इस प्रकार का साहित्य किस प्रकार तय्यार हो। अभी कुछ दिन हुये एक लेखक ने लिखा था कि उनकी पुस्तक की ५० प्रतियां ५ वर्ष में बिकी। लेखक विद्वान् है और पुस्तक उत्तम है। आर्य्य-समाज में ऐसी पुस्तकों की मांग ही नहीं इसलिये न लेखकों को लिखने का ही साहस होता है और न प्रकाशकों को उनके प्रकाशन का।

इसलिये सार्वदेशिक सभा का कर्त्तव्य है कि इसके लिये धन एकत्रित करे। (पिछली बार ५०००१) रुपया इकट्ठा किया गया था। इस बार भी यदि प्रयत्न किया जाय जो ५००००) रुपया एकत्रित हो सकता है। इससे पुस्तकों का निर्माण किया जाय। लेखकों को १०००)रुपया पुरस्कार दिया जाय तो बहुत से लेखक उत्तम से उत्तम ग्रन्थ सहर्ष लिख देंगे। आर्य्य-समाज में विद्वानों की कमी नहीं, पर

जीविका के लिये उनको बहुत से झंझटों में पड़ना पड़ता है। यदि उनको यह कुछ उपहार दिया जाय तो वे पुस्तकें लिखने लगें। पुस्तकें ५०० पृष्ठ से कम की न हो ? । २०००) रुपया उस पुस्तक के प्रकाशन पर व्यय किया जाय। इस प्रकार ५००००) रुपये में १७ ग्रन्थ तय्यार हो गये। उनकी बिक्री से ३ ग्रन्थ और तय्यार हो जावेंगे। यदि यह उत्तम ग्रन्थ जनता के सामने आगये तो एक तो हम उन विद्वानों को आकृष्ट कर सकेंगे जो इस समय हमसे दूर हैं, दूसरे हम आर्य्यसामाजिकों की वृत्तियों को भजन से हटा कर उत्तम साहित्य की ओर खींच सकेंगे। यह पुस्तकें इन विषयों पर हो सकती हैं।

(१) ईश्वर
(२) जीव
(३) प्रकृति
(४) अवतारवाद
(५) आवागमन
(६) कर्म-फलवाद
(७) प्रेतवाद
(८) वेद—ईश्वरीय ज्ञान आदि
(९) मूर्त्तिपूजा
(१०) वृक्षों में जीव
(११) ईश्वर प्रार्थना
(१२) योग तथा प्राणायाम
(१३) छः दर्शन (झमेले)
(१४) वेदों में यज्ञ के स्वरूप(पशु-वध आदि)
(१५) ज्योतिष
(१६) सृष्टि—निर्माण, प्रलय आदि
(१७) आर्यों के पर्व
(१८) उत्तम भजन (छंदो भंग तथा अशुद्ध भाषा न हो)
(१९) महर्षि की जीवनी (छान बीन के बाद लिखी जावे)
(२०) आर्य्यसमाज का गजेटियर (जिसमें समस्त आर्य-समाजिक कार्य्यकर्त्ताओं की संक्षिप्त जीवनी, आर्य-समाजों की सूची पूरे पते सहित, शिक्षणालयों का संक्षिप्त वर्णन, सुधार सम्बन्धी सब कार्य)

धम्मपद

—

महात्मा बुद्ध

प्रणीत

अनुवादक
श्री पं० गंगाप्रसाद
उपाध्याय एम० ए०

मू० १)

यह पुस्तक प्रथम बार हिन्दी में प्रकाशित हो रही है। महात्मा बुद्ध के उपदेश प्राकृत में थे, हिन्दी रूपान्तर अभी तक नहीं हुआ था। पं० जी ने बड़े परिश्रम से यह अनुवाद बड़े सरल शब्दों में रक्खा है। आरंभ में ४० पृष्ठ की विद्वत्पूर्ण भूमिका दी गई है। मूल प्राकृत भी दी गई है। शीघ्र आर्डर भेजिये।

मिलने का पता
पुस्तक विभाग
कला प्रेस
प्रयाग

Reg. No. 2041.

बालोपयोगी सचित्र मासिक पत्र

वार्षिक मूल्य २॥)

एक प्रति का ।)



मैनेजर—कला प्रेस, प्रयाग ।

Printed & Published by Ganga Prasad [Editor] at the Kala Press, Zero Road. Allahabad.